

तुलसी प्रज्ञा

अनुसंधान-त्रैमासिकी



ड १७

जनवरी-मार्च, १९९२

अङ्क ४

तुलसीप्रज्ञा—त्रैमासिक अनुसंधानपात्रिका

खण्ड-१७

जनवरी-मार्च

अंक ४

बीस रुपये

शुल्क—४५) वार्षिक : आजीवन—५०१)

- ० 'तुलसी प्रज्ञा' प्रतिवर्ष—मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर माह के तीसरे सप्ताह में प्रकाशित होती है।
- ० प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि कागज के एक ओर टंकण कराके भेजें। साधारणतया दस पृष्ठों से बड़ा लेख न हो। जरूरी हो तो विवेच्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।
- ० लेख मौलिक और अप्रकाशित होना जरूरी है। कृपया ऐसा कोई आलेख भी न भेजें जो प्रकाशनार्थ अन्यत्र भेजा गया हो अथवा भेजा जाना हो।
- ० 'सम्पादक-मण्डल' द्वारा लेखादि में काट-छांट सम्भव है किन्तु भाव और मंशा को सुरक्षित रखा जावेगा। दुर्लभ फोटो और रेखाचित्र मुद्रित हो सकते हैं।
- ० प्रकाशन-स्वीकृति दो माह के भीतर भेज दी जाती है। अस्वीकृत लेख लौटाने संभव नहीं होंगे। अतः प्रतिलिपि सुरक्षित रख लें।
- ० लेखादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में निबद्ध हो सकते हैं; किन्तु आगम और प्राकृत, संस्कृत आदि ग्रन्थों से उद्धरण देवनागरी लिपि में लिखें और उद्धृत-ग्रन्थों के संस्करण और प्रकाशन-स्थान भी सूचित करें।
- ० समीक्षा और समालोचना के लिए प्रत्येक ग्रंथ की दो-दो प्रतियां भेजें।
- ० सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए—'सम्पादक, "तुलसी प्रज्ञा" जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१६०६' को संबोधित करना चाहिए।

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू-३४१३०६

तुलसी प्रज्ञा

खण्ड १७

जनवरी-मार्च, १९६२

अंक ४

अनुक्रमणिका

| | |
|---|-----------|
| १. सम्पादकीय | |
| २. सप्तषियों से कालगणनाएं | पृष्ठ १७६ |
| ३. हिन्दी काव्य में पंच महाव्रत | १६३ |
| ४. जैन दर्शन और पाश्चात्य मनोविज्ञान की तुलना | १६७ |
| ५. जैन संस्कृति का विराट् प्रतिबिम्ब—जैन कला दीर्घा | २०३ |
| ६. तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास | २०७ |
| ७. आचार्य भिक्षु का राजस्थानी साहित्य | २१५ |
| ८. तीर्थंकरों के नामकरण का हेतु और उनका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ | २१६ |
| ९. पुस्तक-समीक्षा | २२६ |
| १०. पत्राक्ष : | २३८ |

English Section

| | |
|---|-----|
| 1. Every Jain should Learn Sanskrit | 93 |
| 2. Some Particulars of the Jeynes | ५० |
| 3. On the Concept of Truth in Jainism | 99 |
| 4. Non-violent Action in Jain Ethics | 102 |
| 5. Kalki Incarnation | 114 |
| 6. Internal Force of life | 115 |
| 7. Book Review | 120 |
| 'तुलसी प्रज्ञा' के खण्ड-१७ की अनुक्रमणिका | १२३ |

नोट—इस अंक में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक-मंडल अथवा संस्था को वे मान्य हों।

उदयगिरि-खण्डगिरि के छोटे लेखों का महत्त्व

खण्डगिरि-उदयगिरि पहाड़ियों पर 'खारवेल-प्रशस्ति' के अतिरिक्त भी कई छोटे-छोटे लेख हैं। कुछ चित्र और मूर्ति फलक भी बने हैं। उनको संदर्भ में लिये बिना 'खारवेल-प्रशस्ति' का सही मूल्यांकन हो पाना संभव नहीं है।

दोनों पहाड़ियों पर लगभग तीन दर्जन गुंफाएं बनी हैं। हाथी गुंफा सबसे बड़ी है। १२ फीट ऊंची यह गुंफा २८×५९ वर्गफीट की है। एक छोटी हाथी गुंफा भी है। दूसरे नंबर की गुंफा मांचीपुरी अथवा स्वर्गपुरी गुंफा है जो सबसे अधिक सुन्दर है। उसका बाराण्डा २४×७ फीट का है। अनन्त गुंफा भी बड़ी है और उसका बरामदा २७×८ फीट का है। बाघगुंफा बाघ के मुंह की तरह बनी है। गणेश गुंफा के बाहर हाथी खड़ा है जबकि सर्प गुंफा सर्प के मुंह का आकार बनाती है। नवमुनि आदि गुंफाएं नवीन लगती हैं।

छोटे लेखों की दृष्टि से मांचीपुरी, सर्पगुंफा, बाघ गुंफा, बाघेश्वर गुंफा, तत्त्वगुंफा, अनन्तगुंफा, नवमुनिगुंफा, गणेशगुंफा आदि का विशेष महत्त्व है। मांचीपुरी गुंफा में 'कलिंग जिन' की पूजा के दृश्य बने हैं। संभवतः खारवेल के परिवार के बहुत से लोग भी वहां चित्रित हैं। नवमुनिगुंफा में किसी 'उद्योत-केसरीदेव' राजा के लेख हैं और गणेश गुंफा में दूसरे किसी राजा श्री

शांतिकर का उल्लेख है। राजा उद्योत केसरी देव के लेख 'ओम् स्वस्ति' के के चिह्न से शुरू होते हैं। उनमें आचार्य कुलचन्द्र शिष्य शुभचन्द्र और छात्र श्री धर तथा छात्र बीजो के नाम हैं। यह आचार्य कुलचन्द्र, श्री आर्यसंघ प्रतिबद्ध गृह कुल से निकले देशीगण के आचार्य हैं।

इन लेखों का मूल पाठ निम्नप्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) अरहंत पसादाय कालिगानं समानानं लेनं कारितं राजिनो लालाकस/ हथिस हसपयोतस ध्रुतुना कालिग चकवतिनो सिरि खारवेलस/अगमहिंसिना कारितं (२) ऐरस महाराजस कालिगाधिपतिनो महामेघवाहनस कुडेप सिरिनो लेनं (३) कुमारो वामुकस लेनं (४) चुलकमस कोठाजेया च (५) कम्मस हलरिव/ताय च पसादो (६) चुलकमस पसादो कोठाजेया च (७) [चैत्य आकृति] नगर अरिबदंस/संभूतिनो लेनं [स्वस्तिक] (८) महा-मदास वारियाय नाकिपसलेनं (९) पादमुलिकस कुसुमासलेनं (१०) दोहद समनानं लेनं (११) [ओम्] श्रीउद्योतकेसरी विजयराज्य संवत् ५/ श्री कुमार पर्वत स्थाने जीर्णं वापि जीर्णं ईसन/उद्योतिते तस्मिन् स्थाने चतु विंशतितोर्थकर/स्थापित प्रतिष्ठाकाले—जसनादिक/— श्री पार्श्वनाथस्य कर्मकारः (१२) [ओम्] श्री आचार्य कुलचन्द्रस्य तस्य/ शिष्य खल्ल शुभ चन्द्रस्य/छात्रबीजो (१३) श्री धर छात्र (१४) [ओम्] श्रीमद उद्योतकेसरी देवस्य प्रबद्धं माने विजयराज्ये संवत् १८/श्री आर्यसंघ प्रतिबद्ध गृहकुल विनिर्गत देशीगण आचार्य श्री कुलचन्द्र/भट्टारकस्य तस्य शिष्य शुभचन्द्रस्य (१५) श्री शान्तिकर सौराज्याद आचन्द्रावकं/गृहे-गृहे। खदिसंज्ञाने पुण्यः प्रसंगे—/जास्य विराजेजने ॥ ईज्यागर्भं संमुद्/भूतो नन्दनस्य सुतो भिषक्। भीमतो/याचते वान्यप्रस्थं संवत्सरात् पुनः ॥

उपर्युक्त १५ लेख अलग-अलग गुंफा में उत्कीर्ण हैं। पहले तीन लेख मांचीपुरी अथवा स्वर्गपुरी गुंफा में है जहां कालिग जिन की पूजा के दृश्य भी बने हैं। क्रमांक ४ व ५ के लेख सर्प गुंफा में, छठा लेख हरिदास गुंफा में है। सातवां लेख बाघ गुंफा में है। आठवां बाघेश्वर गुंफा, नौवां तत्त्वगुंफा और दसवां अनंत गुंफा में है। लेख संख्या ११ से १५ तक के लेख बाद के हैं और बाद में बनीं नई गुंफाओं में हैं।

अन्तिम १५वें लेख में वर्णित राजा श्री शांतिकर यदि राजा शोभन का ही नाम हो तो 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की रिपोर्ट (सन् १८६५) में वर्णित 'मायलापाजि' की कहानी को आधार मिलता है कि राजा युधिष्ठिर से ३७८२ वर्ष बाद राजाशोभन पर रक्तबाहु ने आक्रमण किया किया और उसे जीतकर २४६ वर्ष तक उत्कल पर शासन किया। उससे पूर्व की कहानी 'उड़ीसा हिस्टोरिकल रीसर्च जर्नल, (वोल्यूम २ नं०२) में

छपी है कि आचार्य पादलिप्त ने, जो आचार्य सिद्धसेन के समकालिक हैं, उड़ीसा के किसी मरुण्ड राजा का मस्तिष्करोग ठीक किया।

लेख क्रमांक ११-१४ में उल्लिखित श्री उद्योत केसरीदेव संभवतः रक्त-बाहुवंश के बाद सत्तासीन हुए वंश के राजा हैं क्योंकि आर्यसंघ प्रतिबद्ध गृह-कुल के देशीगण आचार्य कुलचन्द्र शिष्य शुभचन्द्र, राजा मुंज के भाई बताए गए हैं। वे पद्मनंदि (१०१६-११३६ ईसवी) के गुरु और “ज्ञानार्णव” के रचयिता हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (भाग ४ पृ० ४१) में इनका समय १००३-१०६८ ईसवी बताया गया है।

सन् १९४७ में शिशुपालगढ़ (प्राचीन कलिगनगरी) की खोदाई हुई तो वहाँ एक मृण्मय फलक पर ‘असत्रस पसनकस’—अमात्य प्रसनक की सील मिली थी उसे उपर्युक्त शिलालेख क्रमांक ४ से १० तक से संबंधित माना जा सकता है। संभवतः यह खारवेल वंश के काफी बाद का इतिहास है।

डा० कृष्ण स्वामी ने दो तामिल ग्रंथ—‘शिलपथीकारम्’ और ‘मणि मेखलाई’ के आधार पर अपने ग्रंथ “एंशियट इण्डिया एण्ड साऊथ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर” (वोल्यूम १ पृ ४०१-२) में लिखा है कि उत्कल का साम्राज्य दो भागों में बंट गया था और कपिलपुर और सिंहपुर उसकी दो राजधानियाँ थीं। डा० कृष्ण स्वामी की कहानी का एक आधार दाठा धातुवंश के बुद्धदंत उपाख्यान में दीख पड़ता है। उसके अनुसार बुद्ध के दांत के लिये युद्ध हुआ और उत्कल दो राज्यों में बंट गया।

लेख क्रमांक एक से तीन स्वयं खारवेल के जीवन काल में ही लिखे गये हो सकते हैं। पहला लेख कलिग श्रमणों के लिए खारवेल की महारानी द्वारा गुंफादान से संबंधित है। उसमें महारानी लालाक ने अपने पितामह हंस-प्रद्योत और पिता हथी का नाम लिखा है। दूसरे लेख में खारवेल के पिता, पितामह, और प्रपितामह के नाम क्रमशः कुडेपसिरि, महामेघवाहन और ऐरस लिखे हैं। तीसरे शिलालेख में राजकुमार वासुक का नाम है।

खारवेल-प्रशस्ति की दशवीं पंक्ति में दशवें वर्ष का कार्य-विवरण इस प्रकार दिया है—“दसमे च वसे कलिगराजवसाने ततिययुग सगावसाने कलिग युवराजनं वासकारं कारापयति सतसहसेहि”—अर्थात् दशवें वर्ष जब कलिग-राज वंश (चेदि राजवंश) के तीन राजाओं का काल पूरा हुआ और सगावसान (कुडेपसिरि की मृत्यु हुई) हुआ तो समारोहपूर्वक वासुक को युवराज बनाया गया।

इस प्रकार मांचीपुरी गुंफा के ये तीन लेख जिनके साथ कलिग जिन पूजन में कुडेपसिरि और उनका पौत्र वासुक साथ-साथ खड़े चित्रित हैं, निस्संदेह खारवेल-प्रशस्ति से पूर्व के हैं।

—परमेश्वर सोलंकी

मांचीपुरी-स्वर्गपुरी जिन पूजा के दृश्योंवाली गुंफा के तीन लेख



(१) अग्रमहिषी लालाक का लेख



(२) कुडेपसिरि का लेख



(३) राजकुमार वासुक का लेख

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

सप्तर्षियों से कालगणनाएं

□ डॉ० परमेश्वर सोलंकी

सप्तर्षि संवत् कश्मीर के दक्षिण पूर्वी क्षेत्र चेनाव से पश्चिम और जमुना से पूर्व में प्रचलित है।^१ अलबरूनी के समय वह मुल्तान और सिंध में भी प्रयुक्त होता था।^२ उसने शक काल ६५१ में सप्तर्षियों के अनुराधा नक्षत्र में रहते ७७ वर्ष बीतने की बात लिखी है।^३ कनिष्क को ए. डी. १८५६ में कांगड़ा के ब्राह्मणों ने लिखा था कि कलियुग के आरंभ में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में ७५ वर्ष बीता चुके थे, इसलिये कलियुगाब्द और सप्तर्षि-संवत्सर (पहाड़ी संवत्सर) में २५ वर्षों का अन्तर है। अर्थात् ए. डी. १८८५ में कलियुग ४६६० वर्ष और बृहस्पति-संवत्सर का ३५वां वर्ष है जो कलियुग से २५ वर्ष पीछे है।^४

वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (१३.१, २, ३) में इस संबंध में वृद्ध गर्ग का मत उद्धृत किया है—

सैकावलीव राजति ससितोत्पलमालिनी सहासेव ।
नाथवतीव च दिग्यैः कौबेरी सप्तभि मुनिभिः ॥१॥
ध्रुवनायकोपदेशान्नरिनर्तनोत्तरा भ्रमद्भिश्च ।
येश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्ध गर्गमतात् ॥२॥
आसन्नमघासु मुनयः शासति पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ ।
षड्द्विकर्षचयुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥३॥

कि सप्तर्षि उत्तर दिशा में भ्रमण कर रहे थे और जब महाराजा युधिष्ठिर थे तो मघा नक्षत्र में थे। तब से २५२६ वर्ष बीत गए तो उस राजा (देवळ) का शक काल शुरू हुआ।^५

कनिष्क को कांगड़ा के ब्राह्मणों से एक और प्रश्न का उत्तर मिला कि द्वापर की समाप्ति तक सप्तर्षि मण्डल ने तीन पर्याय पूरे किये थे किन्तु मघा नक्षत्र में २५ वर्ष का भोग शेष था।^६ यह पर्याय पाजिटर की व्याख्यानुसार २७०० वर्षों का होता है—

सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम् ।
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्ययास्मृतम् ॥
माता दिव्याः स्मृता षट्च दिव्याब्दानि तु सप्त हि ।
तेभ्यः प्रवर्तते कालो दिव्यः सप्तर्षीभिस्तु वं ॥

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितो निशि ।
तयोर्मध्ये तु नक्षत्रं दृश्यते यत्समं दिवि ॥
तेन सप्तर्षयो युक्ता ज्ञेया व्योम्नि शतं समाः ।
नक्षत्राणां ऋषीणां च योगस्यैतन्निदर्शनम् ॥

अर्थात् सप्तर्षि एक, एक नक्षत्र में सौ, सौ वर्ष रहते हैं और उनका पूरा पर्याय सात दिव्य वर्ष और छह दिव्य माहों का होता है जो मानव वर्षों में $7\frac{1}{2} \times 360 = 2720 + 140 = 2860$ वर्षों के तुल्य होता है ।^१

पाजिटर के इस दावे के विरुद्ध पुराणों में सप्तर्षि-संवत्सर ३०३० वर्षों का बताया गया है और तीन सप्तर्षि-संवत्सरों के बीतने पर एक क्राँच (ध्रौव) संवत्सर पूरा होने का उल्लेख मिलता है—

त्रीणिवर्षं सहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः ।
त्रिंशद्यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षि वत्सरः ॥
नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु ।
अन्यानि नवतिश्चैव क्राँच संवत्सरः स्मृतः ॥^२

इस संबंध में विष्णु पुराण में लिखा है कि स्वायंभुव मनुपुत्र उत्तानपाद ने उत्कृष्ट तपश्चर्या से जब सर्वोच्च स्थान (निर्वाणपद) प्राप्त किया और उसी समय क्राँच-संवत्सर (तीन सप्तर्षि-संवत्सरों की पूर्ति पर) पूरा हुआ तो उस संवत्सर को ध्रौव-संवत्सर नाम से अभिसंज्ञित कर दिया गया ।

दुर्भाग्य से आज वैवस्वत मनु से पूर्व की वंशावली और उसका इतिवृत्त लुप्त हो गया है ।^३ फिर भी कतिपय तदाभास मिलते हैं । जैसे वायुपुराणकार लिखता है—

अष्टाविंशति यें कल्पा नामतः परिकीर्त्तिताः ।
तेषां पुरस्ताद्वक्ष्यामि कल्पसंख्या यथाक्रमम् ॥

किं भू, भुव, तपस, भव, रम्भ, ऋतुकल्प, क्रतु, वह्नि, हव्यवाहन, सावित्र्य, भुवन (१), उशिक, कुशिक, गन्धर्व, ऋषभ, षडज, मार्जालीय, मध्यम, वैराजक, निषाद, पंचम, मेघवाहन, चितक, आकूति, विज्ञाति, मनस, भाव और बृहत्—ये २८ कल्प बीत चुके हैं और २८ कल्पों के २८ सहस्र वर्षों में १२ संग्राम हुए हैं जो क्रमशः नार-सिंह, वाराह, वामन, अमृतमंथन, सुघोर, आडीवक, त्रैपुर, अंधकार, ध्वज, वार्ता, हलाहल और कोलाहल नाम से याद किये जाते हैं (वायु पुराण ६७.७२-७७) । विष्णुपुराणकार (४.१.७०) कहता है—“सांप्रतं महीतले अष्टाविंशतितम मनोश्चतुर्युगमतीतप्रायं वर्तते । आसन्नो हि कलिः”—कि वर्तमान में २८वां चतुर्युग (कल्प) समाप्त प्रायः हो रहा है और भविष्य पुराण (प्रतिसर्ग, ३.३.३४) में लिखा है कि २८वें कल्प के अन्त में ही कुरुक्षेत्र संग्राम हुआ । अर्थात् कांगड़ा के पंडितों ने द्वापर समाप्ति पर जिस ध्रौव संवत्सर के बीतने में २५ वर्ष कम बताए वह क्राँच-संवत्सर, उत्तानपाद ध्रुव के नाम पर अभिसंज्ञित संवत्सर ही था ।

इस प्रकार महाभारत काल पूर्व अथवा ३०४३ वर्ष विक्रम पूर्व तक स्वायंभुव मनु को ६०६०+३०४३—२५=१२१०८ वर्ष बीत चुके थे ।

२. सप्तर्षि-गणना का आरंभ

भारतीय काल गणना में सप्तर्षि मंडल परिचालन से गणनाएं कब शुरू की गईं ? इस संबंध में निश्चय पूर्वक कुछ भी कह पाना कठिन है, किन्तु ऋग्वेद (१.२४.१०) में सप्तर्षि मण्डल (ऋक्ष) का विवरण है । उससे पूर्व (१.१०.३) एक मंत्र में कालावयवों को जोड़ने के अर्थ में 'युग'—पद भी प्रयुक्त है । इसके अलावा ऋग्वेद के दो और मंत्रों (१०.८२.२ और १०.१०६.४) में सप्तर्षिमण्डल का उल्लेख है । इसलिये यह माना जा सकता है कि वैदिक काल में ही सप्तर्षियों के परिभ्रमण से कालगणनाएं की जाती रही हैं । किन्तु उस समय नक्षत्र मण्डल में २७ नक्षत्रों के स्थान पर शमिष्ठा, ब्रह्ममंडल और अभिजित् सहित तीस नक्षत्र माने जाते हों—ऐसा हो सकता है क्योंकि सौरमंडल के विशालतम गृह-बृहस्पति और शुक्र की 'अश्वनी' संज्ञा होने के अलावा उन्हें यमगृह के दो श्वान (१०.१४.११) कहा गया है और ऋग्वेद में ही कहा गया है कि यम काल-नियामक है । आकाशीय पिंडों के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण का भी वहां विस्तृत वर्णन है ।^{१०}

ऊपर उद्धृत पाटिंजर के द्वारा संकलित पुराण-संकलन (DKA) के श्लोकों में एक श्लोक इस प्रकार है—

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितो निशि ।
तयोर्मध्ये तु नक्षत्रं दृश्यते यत्समं दिवि ॥

—ब्रह्माण्ड पुराण में यह श्लोक निम्न प्रकार से पठित है, जिससे सप्तर्षि परिचालन स्पष्ट होता है ।

सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उत्तरादिशि ।
तयोर्मध्ये तु नक्षत्रं दृश्यते यत्समं दिवि ॥
तेन सप्तर्षयो युक्ता ज्ञेया योमिनि शतं समाः ।

अर्थात् कभी सप्तर्षि पूर्व में उदित होते थे किन्तु कालान्तर में उत्तर दिशा में उदित होने लगे । हमारी विनम्र सम्मति में यह उत्तर वैदिक काल (ब्राह्मणकाल) की वह खगोल दुर्घटना है जिसका विवरण शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है । उस समय कृत्तिकाएं पूर्व में स्थिर मान ली गईं ।^{११}

वास्तव में उत्तर वैदिक काल में (लगभग ५००० वर्ष पूर्व) कृत्तिकाओं की यकायक पर निरंतर पूर्व दिशा में उदित हुआ देखकर कर्मकाण्डों के लिए कृत्तिकाओं से गणना होने लगी और फिर लंबे समय तक दोनों प्रकार से कालगणनाएं होती रहीं (कर्मसु कृत्तिकाः प्रथमं आचक्षते श्रविष्ठा तु संख्यायाः) । 'मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत्कृत्तिकाः' और 'तस्मात्कृत्तिका स्वादधीत'—इत्यादि ब्राह्मण-वाक्य इसमें प्रमाण हैं ।

विक्रम पूर्व १४वें शतक में हुए महर्षि लगध ने इस व्यतिक्रम को व्यवस्थित किया और २७ नक्षत्रों के नक्षत्र मण्डल का निरूपण किया। उन्होंने व्यवस्था दी—

स्वराक्रमेते सोमाकौ यदा साकं सवासवौ ।
स्यात्तदादियुगं माघस्तपः शुक्लोऽयनं ह्युदक् ॥
प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसाबुदक् ।
सर्पाधे दक्षिणार्कस्य माघ श्रावणयोः सदा ॥

कि जब सूर्य, चन्द्र, धनिष्ठा—तीनों एक साथ क्षितिज पर उदित हों तो माघ शुक्ल प्रतिपदा से कालगणना शुरू होती है क्योंकि उत्तरायण गति माघ में धनिष्ठा से और दक्षिणायन गति श्रावण में आश्लेषा से होती है। पुनः विक्रम पूर्व छठी सदी में हुए बृद्ध गर्ग तथा विक्रम पूर्व दूसरी सदी में वर्तमान रहे आर्यभट्ट-प्रथम और वराह-मिहिर आदि ने नक्षत्र वेध कर चित्रा से (नक्षत्र गणना अश्विनी से) वर्षारंभ माना। वराहमिहिर कहते हैं—

आश्लेषात् दक्षिणमुत्तरमयनं धनिष्ठाद्यम् ।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वं शास्त्रेषु ॥१॥
सांप्रतमयनं कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत् ।
उक्ताभावो विकृतिः सवितुः प्रत्यक्ष परीक्षणैर्व्यक्तिः ॥२॥

कि आश्लेषा और धनिष्ठा में कभी उत्तरायण-दक्षिणायन होता होगा, परन्तु आज तो कर्क और मकर राशि से है।

इस प्रकार 'नक्षत्रचक्रे प्रथमं धनिष्ठाः' और 'मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत्कृत्तिकाः'—ये दो स्थितियां बदलीं अथवा दो बार कालगणनाएं व्यवस्थित हुईं। पुनः तीसरी बार की व्यवस्था में स्पष्टतया दो वर्षों की कमी की गई—

द्वयूनं शकेन्द्रकालं पंचभिरुद्धृत्य शेष वर्षाणां ।
द्युगणं माघसिताद्यं कुर्यात् द्युगणं तदन्हु दयात् ॥

कि शकेन्द्रकाल=विक्रम पूर्व ५४३ वर्ष में दो वर्ष कम करें और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से गणनारंभ हो। अर्थात् सप्तषि-संवत्सर में पृथक्-पृथक् तीन कालों में—प्रथम धनिष्ठादि गणना से, द्वितीय कृत्तिकादि गणना से तथा तीसरी बार चित्रादि गणना से कालमान स्थिर किया गया। प्रथम काल गणना का सप्तषि पर्याय ३०३० वर्षों का है और दूसरी-तीसरी गणनाओं में उसे २७०० वर्षों में सीमित कर दिया गया है किन्तु अभिजित् नक्षत्रमान के लिए प्रत्येक चौथे शतक में १८ वर्ष योग का विधान भी किया गया।^{१९}

३. सप्तषि-परिचय और कालगणना में प्रगति

अति प्राचीन काल से ध्रुव तारा और उसके परिध्रुवतारों को भारतीय कालगणना में प्रमुख स्थान प्राप्त है। परम्परागत अनुश्रुति है कि ध्रुवतारा ६००० वर्षों तक एक

ही स्थान पर परिभ्रमण करता रहता है। उसके चौरफ परिभ्रमण करने वाले सात, सात तारों के दो समूह हैं जो छोटे, बड़े सप्तर्षि मण्डल कहे जाते हैं। ऋग्वेद में इन्हें “नः पितरः”—हमारे पूर्वज कह कर स्मरण किया गया है।

ऋग्वेद में सप्तर्षियों को ‘नवग्वाः’ और ‘दशग्वाः’ कहा गया है। ‘ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे’—अर्थात् दशग्वाः नक्षत्र (सप्तर्षि बड़े) प्रथम यज्ञ कर्त्ता हैं और ‘यथा तरन् दशमासो नवग्वाः’—दश मास तक दृश्यमान रहने से छोटे सप्तर्षि भी आंगिरस हैं। ऋग्वेद में ही सप्त होताओं का भी विवरण है। ये सप्त होता (यज्ञकर्त्ता) भृगु और अथर्वा के नेतृत्व में क्रमशः दशग्वा और नवग्वा कहे गए हैं, यही आंगिरस हैं। यज्ञ कर्त्ता हैं। सप्त मुख दशग्वाओं पर उषा की कृपा रहती है। अतः उन्हें ‘गवां अयन’ और दूसरे को ‘आंगिरस अयन’ कहा गया है। दोनों ही का कालमान दशमाह बताया गया है।^{१०}

ऋग्वेद (१०.१०६.४) में साफ लिखा है—‘सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः’—कि वे सप्तर्षि हैं जो तप के कारण वहाँ आसमान में बँठे हैं। शतपथ ब्राह्मण के लेखनकाल में वे स्थाई रूप से उत्तर में उदित होने वाले तारे मान लिये गये थे (अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति—२.१.२.४)।^{११}

ऋग्वेद (१.११५.१) में सूर्य को चराचर जगत् का आत्मा (सूर्य आत्मा जगत-स्तस्थुषश्च) कहा गया है किन्तु उसे काल का कारण नहीं माना गया। सर्व प्रथम वायुपुराणकार उसे दिन की नाभि कहता है क्योंकि वह चक्रवत् चलता है—‘अहस्तु नाभिः सूर्यस्य एक चक्रः स वै स्मृतः’ (५१.६०)। वह चन्द्रमा, सप्तर्षि और अन्य सब ग्रहों का प्रतिष्ठापक भी सूर्य को ही मानता है—

नक्षत्र ग्रह सोमानां प्रतिष्ठा योनि रेव च ।

चन्द्र ऋक्ष ग्रहा सर्वे विज्ञेयाः सूर्यं संभवाः ॥

और मैत्रायणी उपनिषद् (६.१४) में तो साफ ही कह दिया गया है कि—सूर्य ही काल का कारण है। इसी भाव को वृद्ध गर्ग ने ‘कालज्ञानं महापुण्यं कालश्चादित्य उच्यते’—कह कर दीहराया है।

इस प्रकार भारत की प्राचीन कालगणना नक्षत्रों पर आधृत है। आज का नक्षत्र विज्ञानी जानता है कि बृहस्पति, नक्षत्र जगत् का सबसे बड़ा ग्रह है। शुक्र भी बहुत बड़ा ग्रह है किन्तु वह पृथ्वी से अधिक सूर्य के निकट है इसलिए सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद आसमान में निश्चित स्थान पर दीख पड़ता है। मृग नक्षत्र-आद्रा भी व्यास में सूर्य से ४५० गुणा बड़ा है। ध्रुव पृथ्वी की उत्तरी धुरी के ठीक ऊपर दीखता है। वह नक्षत्र जगत् की भी धुरी लगता है। उसके चौरफ लघु सप्तर्षि और बृहत् सप्तर्षि दाहिने से घूमते नजर आते हैं। सप्तर्षियों के ठीक सामने शर्मिष्ठा के पांच तारे हैं। दायें-बायें ब्रह्ममण्डल के आठ और नक्षत्र अभिजित् के पांच तारे हैं जो सभी प्रदक्षिणा में दीख पड़ते हैं।*

जैनागम—ठाण में पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी नक्षत्रों

में दो, दो तारे, अभिजित्, श्रवण, अश्वनी, भरणी, मृगसिर, पुष्य, ज्येष्ठा नक्षत्रों में तीन, तीन तारे और घनिष्ठा, रोहिणी, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा नक्षत्रों में पांच, पांच तारे बताए गए हैं ।

वहां लिखा है कि अभिजित्, श्रवण, घनिष्ठा, रेवती, अश्वनी, मृगसिर, पुष्य, हस्त और चित्रा—ये ६ नक्षत्र चन्द्रमा के पृष्ठभाग में रहते हैं और कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा चन्द्रमा से स्पर्श योग करते हैं । ठाणम् में १५,३० और ४५ मुहूर्त तक प्रकाशमान दीखने वाले तारों का भी विवरण है । वहां मघा नक्षत्र में सात तारे बताए गए हैं ।^{१५}

उपर्युक्त परिदृश्य भारतीय कालगणना की प्रगति दर्शाता है । हमारी कालगणना में बृहस्पतिमान (१२ वर्ष) और बार्हस्पत्य संवत्सर (पांच बृहस्पतिमान अथवा पांच-पांच वर्षों के १२ युग) का विशेष महत्त्व है । बृहस्पति और शुक्र हमारे प्रथम काल-निदेशक हैं । कालान्तर में उत्तरी ध्रुव की पहचान हुई और उसे धुरी जानकर पृथ्वी का परिभ्रमण समझा गया और फिर सूर्य का महत्त्व उजागर हुआ ।^{१६}

आरंभ में बहुत से नक्षत्रों की तरह धुंध और गैस के आवरण में ढका होने से सूर्य अथवा सूर्यों को मण्डल की संज्ञा प्राप्त न थी । आज भी सूर्य का अपना मण्डल छोटे-छोटे ज्योति पुंज (asteroids) और धूमकेतुओं (comets) से घिरा है और पृथ्वी और सूर्य के बीच में शुक्र (venus) दीख पड़ता है ।

४. गणना में व्यतिक्रम

भारतीय गणना बहुत व्यवस्थित और परितः प्रमाणित गणनाएं हैं । अत्यधिक प्राचीनता और बहुमुखी प्रगति के कारण उनमें व्यतिक्रम हो गए । लगभग एक सहस्राब्दी पूर्व व्यतिक्रम और व्यामोह अधिक बढ़े । कश्मीरी पं० कल्हण तो स्पष्ट कहते हैं—

भारतं द्वापरान्तेऽभूद्द्वान्तयेति विमोहिताः ।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्या प्रचक्रिरे ॥

कि लोग इस दन्तकथा से कि महाभारत युद्ध द्वापर और कलि की संधि में हुआ, मोहित होकर मिथ्याकाल की परिकल्पना किये हुए हैं । उन्होंने कुरु पाण्डवों को कलियुग के ६५३ वर्ष बीतने पर हुआ माना है ।

कुछ अन्य विद्वान् निम्न दो श्लोक उद्धृत करके मघा नक्षत्र से पूर्व नक्षत्र आश्लेषा से वाम (उल्टी) ओर से गणना करते हैं—

पंचसप्तति वर्षाणि प्राक्कालेः सप्त ते द्विजाः ।
मघास्वासन् महाराजे शासत्युर्वो युधिष्ठिरे ॥
पंच विंशतिवर्षेषु गतेष्वथ कलौयुगे ।
समाश्रयन्त्याश्लेषां मुनयस्ते शतं समाः ॥

अर्थात् जब मुनिगण मघा में थे और महाराज युधिष्ठिर शासन कर रहे थे तो ७५ वर्ष बीते थे और कलियुग शुरू हो गया। फिर २५ वर्ष मघा में रहकर मुनि आश्लेषा नक्षत्र में प्रविष्ट हुए। रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी इन्हीं श्लोकों के आधार पर अपनी 'प्राचीन लिपिमाला' (पृ० १५६-६०) में लिखा है— 'काश्मीर वाले इस संवत् का (सप्तर्षि) प्रारंभ कलियुग २५ वर्ष पूरे होने पर (२६वें वर्ष से) मानते हैं।"

कश्मीरी पंडित कल्हण भी सप्तर्षियों के परिचालन को वाम (उल्टी) गति से गिनकर ही कुरु-पाण्डवों को कलियुग के ६५३ वर्ष बाद होना बताते हैं—

ऋक्षादृक्षं शतेनाब्दै यात्सु चित्र शिखण्डिसु ।
तच्चारे संहिताकारैरेवं वत्तोऽत्रनिर्णयः ॥

× ×

शतेषु षट्सु सार्धेषुत्र्यधिकेषु च भूतले ।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन्कुरु पाण्डवाः ॥

कि सप्तर्षि मघा नक्षत्र से आश्लेषादि क्रम से चित्रा नक्षत्र में पहुंचे तो २४०० वर्ष बीते थे अथवा चित्रा नक्षत्र से सीधी गणना करें तो मघा नक्षत्र तक २४०० वर्ष ही होते हैं जब कलियुग शुरू हुआ, इसलिये कुरु-पाण्डव कलियुग आरंभ से ६५३ वर्ष बाद हुए। यह मानना चाहिए।

यह गणना विपर्यस्त और अशुद्ध है क्योंकि सप्तर्षि वर्तमान में आद्रा नक्षत्र पर्याय में हैं। यदि आश्लेषादि वाम क्रम से गणना करें तो मघा तक एक नक्षत्र पर्याय और दूसरी पर्याय में आश्लेषादि से चित्रा तक ही पचास नक्षत्र अथवा पांच हजार वर्ष पूरे हो जाते हैं। किन्तु यदि सीधी, पूर्वा फाल्गुनी आदि से गणना करें तो मघा से मघा तक २८ नक्षत्र और दूसरी पर्याय में पूर्वाफाल्गुनी से २३वां नक्षत्र आद्रा आ जाता है।

पं० कल्हण ने अपने इस विपर्यस्त निर्णय से गोनंदादि से अभिमन्यु तक ५२ राजाओं का कालमान प्रत्येक का २४ वर्ष हिसाब से १२६६ वर्ष माना है किन्तु बाद के २१ राजाओं (अंधे युधिष्ठिर तक) के लिए उसे २२६८ वर्ष जोड़ने पड़े जो प्रत्येक राजा के लिए ४६ वर्ष होने से असंगत हैं।^{१०}

५. चीनी पुस्तक का प्रसंग

चीन की पवित्र पुस्तक में 'दी शू'—रेकार्ड से दो प्रसंग दिए हैं जो काल नियामक हैं। पहले प्रसंग में बताया गया है कि राजा कुंगसांग (बी. सी. २१५६-२१४५) के पांचवें शासन वर्ष और राजा यू (बी. सी. ७८१-७७०) के छठे शासन वर्ष में अर्थात् क्रमशः बी. सी. २१५६ और बी. सी. ७७६ में सूर्य ग्रहण हुए थे। दूसरे प्रसंग में आकाश में कृत्तिकाओं की तीन स्थितियां बताई गई हैं जो क्रमशः बी. सी. २३००, ए. डी. ०१ और ए. डी. १८७८ ईसवी को दृश्यमान थीं। इस प्रसंग विवरण के अनुसार बी. सी. २३०० में कृत्तिकाएं विषुवत् रेखा से सटी हुई थी, ए. डी. ०१ में सूर्य पथ के साथ लगभग दो डिग्री ऊपर और ए. डी. १८७८ में सूर्य पथ के साथ कर्क रेखा पर मघा

नक्षत्र के समानान्तर दृश्यमान थीं । इन तीन स्थितियों में कृत्तिकाओं की पहली स्थिति में (बी. सी. २३०० की) जबकि वे भूमध्य रेखा से सटी मेष राशि में होती हैं तो प्रायः वही परिदृश्य बनता है जो शतपथ ब्राह्मण में विवर्णित है । अर्थात् वह परिदृश्य आज से २३०० + १६६० = ४२६० वर्ष पुराना सिद्ध होता है ।^{१९} शतपथ में वर्णित कृत्तिकाओं की स्थिति को सही समझकर स्व० शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने सन् १६०० में वेध किया था और कृत्तिकाओं को विषुवत् रेखा से ६८ अंश ऊपर पाया था जिससे कालमान ४६८८ वर्ष बनता है ।^{१९}

६. पुराणों के प्रसंग

पुराणों में सप्तर्षि-गणना के कई प्रसंग हैं । उन सबका समाहार निम्न प्रकार हो सकता है—

सप्तर्षयस्तदा प्राहुः प्रतीपे राज्ञि वं शतम् ।
 सप्तविंशैः शतैर्भव्या अन्ध्राणां ते त्वया पुनः ॥१॥
 सप्तविंशति पर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्र मण्डले ।
 सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पयसिण शतं शतम् ॥२॥
 सप्तर्षीणां युगं ह्येतद्विव्यया संख्यया स्मृतम् ।
 मासा दिव्याः स्मृता षट् च दिव्याब्दानि तु सप्त हि ॥३॥
 सा सा दिव्या स्मृता षष्टिदिव्याह्लाशचैव सप्तभिः ।
 तेभ्यः प्रवर्तते कालो दिव्यः सप्तर्षिभिस्तु वै ॥४॥
 सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उत्तरा दिशि ।
 तयोर्मध्ये तु नक्षत्रं दृश्यते यत्समं दिवि ॥५॥
 तेन सप्तर्षयो युक्ता ज्ञेया व्योम्नि शतं समाः ।
 नक्षत्राणामृषीणां च योगस्यैतन्निदर्शनम् ॥६॥
 सप्तर्षयो मघा युक्ताः काले पारिक्षिते शतम् ।
 आन्ध्रान्ते च चतुर्विंशेर्भविष्यन्ति मते मम ॥७॥
 —वायुपुराण (६६.४१८-४२३)
 ब्रह्माण्डपुराण (३.७४.२२५-२३६)
 मत्स्यपुराण (२७२.३८-४३)
 भागवतपुराण (१२.२.२७-३१)
 विष्णुपुराण (४.२४.१०५-११६)

इनमें पहला श्लोक वायुपुराण में निम्न तीन श्लोकों के बाद दिया है—

महापद्माभिषेकात्तु जन्म यावत् परिक्षितः ।
 एवं वर्षं सहस्रं तु ज्ञेयं पंच शतोत्तरम् ॥४१५॥
 पौलोमास्तु तथान्ध्रास्तु महापद्मान्तरे पुनः ।
 अन्तरं तच्छतानष्टौ षट्त्रिंशच्च समाः स्मृताः ॥४१६॥
 तावन्कालान्तरं भाव्यमान्ध्रान्तादापरिक्षितः ।
 भविष्ये ते प्रसंख्याताः पुराणज्ञैः श्रुर्त्तर्षभिः ॥४१७॥

सप्तर्षयस्तदा प्राहुः प्रतीपे राज्ञि वं शतम् ।

सप्तविंशं शतं भविष्या अन्धाणां त्वया पुनः ॥४१८॥

यह प्रसंग बहुत स्पष्ट और प्रामाणिक है । परिक्षित जन्म अथवा महाभारत युद्ध समाप्ति से महापद्म नंद के अभिषेक तक १५०० वर्ष और महापद्म अभिषेक से आन्ध्रों के शासनान्त तक ८३६ वर्ष—कुल २३३६ वर्ष पूरे होते हैं । पुराणकार कहते हैं कि राजा प्रतीप (शांतनु के पिता और भीष्म के पितामह) के समय सप्तर्षियों का आश्लेषा भ्रमण समाप्त हुआ और मघा पर्याय शुरू हुआ । जब आन्ध्रों का शासन समाप्त होगा तो वे २७ सौवें वर्षों में होंगे । यहां ३६४ (२७००-२३३६) वर्षों का ब्यौरा नहीं है । इसीलिये आगे ४२३वें श्लोक में २४वें शतक का उल्लेख है—

सप्तर्षयो मघा युक्ताः काले पारिक्षिते शतम् ।

अन्धान्ते च चतुर्विंशे भविष्यन्ति शतंसमाः ॥

अर्थात् राजा प्रतीप के समय सप्तर्षियों ने मघा नक्षत्र में प्रवेश किया था और परिक्षित के समय अपना 'शतम्' पूरा किया । वे आन्ध्रों के शासनान्त पर २४वें शतक में होंगे । यह सही है । क्योंकि वास्तव में महापद्म अभिषेक से ८३६ वर्ष बाद आन्ध्र साम्राज्य को उज्जैनी नरेश विप्रशूद्रक ने गंभीर चुनौती दी थी और अपना विशाल राज्य स्थापित कर कलिसंवत् २३४५ में (उपर्युक्त अन्तर २३३६ से नौ वर्ष बाद) अपना शूद्रकाब्द शुरू किया था ।^१

किन्तु विप्रशूद्रक का साम्राज्य शीघ्र ही विखंडित हो गया और आन्ध्र पुनः सत्ता में आ गए । पुनः आन्ध्रों की सत्ता का अन्त, पाटलीपुत्र में जन्में गुप्तों के नये राजवंश के शासक समुद्रगुप्त (यूनानी लेखकों का सेण्ड्राकोटस) ने विक्रमी संवत् पूर्व ३०२ वर्ष में किया जब उसने आन्ध्र भृत्यों सहित सभी छोटे-बड़े शासकों को विजयकर (प्रयाग प्रशस्ति अनुसार) अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित किया ।

इस प्रकार सप्तर्षियों का मघा पर्याय राजा परिक्षित के शासन के दूसरे वर्ष— ३०४३—३६ युधिष्ठिर शासन + २ परिक्षित शासन = ३००५ वर्ष विक्रम पूर्व में समाप्त हुआ और उससे २७०० वर्ष बाद अर्थात् ३०५ वर्ष विक्रम पूर्व में आन्ध्र सत्ताविहीन हुए अथवा सप्तर्षियों का २७०० वर्षों का परिभ्रमण पूरा हुआ । उसके बाद अर्थात् ३०५ वर्ष विक्रम पूर्व + विक्रम संवत्सर के २०४८ वर्ष कुल २३५३ वर्ष बीते हैं जो मघा नक्षत्र सहित २४वें नक्षत्र (अश्वनी से छठे) आद्रा का तीसरा चरण है और प्रत्यक्ष वेध सिद्ध है ।

इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द २०) में सप्तर्षि संवत् के चार प्रयोग दिए हैं । चम्बा के लेख में वि० सं० १७१७ के तुल्य सप्तर्षि संवत् ३६ दिया है । कैपट रचित देवीशतक टीका लेखन काल—'वसु मुनि गगणोदधि'—४७०८ कलिसंवत् तुल्य ५२ वर्ष तथा ध्वन्यालोक-प्रशस्ति में 'सप्तर्षि संवत् ४६५१ आश्वयुज कृष्ण सप्तमी मंगलवार' दिया है । साथ ही वि० सं० १८५० के पंचांग की प्रतिलिपि भी दी है जो इस प्रकार है—

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

१८७

‘सप्तर्षि चारानुमतेन संवत् ४८६६ तथा च संवत् ६१ चैत्र शुद्धि १ श्री शाका १७१५ कालगताब्दाः १०२८ दिनगणाः ४१२०१० श्री विक्रमादित्य संवत् १८५० कल्य- गताब्दा १६७२६४८८६४ शेषाब्दाः २३४७०५११०६ कले गर्त वर्षाणि ४८६४ शेष वर्षाणि ४२७१०६ ।’^{२१}

यह संवत्सर उपर्युक्त सप्तर्षि संवत् और कलिगत संवत् ५०६१ (४८६४) से १६७ वर्ष ही कम है जो सप्तर्षि सं० ४८६४ के सम तुल्य विक्रम संवत् १८५० में योग करने से २०४७ वर्ष गत ही होते हैं । □

संदर्भित ग्रन्थ

१. प्राचीन भारतीय इतिहास का कालक्रम (अप्रकाशित)
२. ओक ही संवत्सर, बीकानेर, वि० सं० २०४५
३. शक-साका, बीकानेर, वि०सं० २०४८
४. राजतरंगिणी, कल्हण, वाराणसी, १६६६
5. A Book of Indian Eras, Cunningham, Varansi, 1970
6. A list of Northern Inscriptions, Kilhorn, E.I. Vol-V
7. Puranic chronology, Mankad, Anand, 1951
8. The Sacred books of China, James Legge, New Delhi, 1990
९. राजस्थानी महप्रदेश का इतिवृत्तात्मक विवेचन, बिसाऊ, १६६१

फुटनोट्स

1. ‘It is still used in hill states to the south east of Kashmir between the chenab on the west and the Jumna on the east’—Cunningham, Book of Eras, P-6
2. ‘According to Alberuni, the use of *Sapta Rishi* cycle had certainly extended to Multan and Sindh’. P-10
3. ‘I have read in the almanac for the year 951 of *Saka Kāl* which came from Kashmir, the statement that the Seven *Rishis* stand since 77 years in the lunar station *Amurādhā*’—Alberani, P-391

कश्मीर का यह संदर्भित पंचांग, पाण्डवकाल को कल्हण की मान्यता के अनुसार कलिसंवत् ६५३ वर्ष बाद मानकर बनाया गया है और उसमें नक्षत्रों का क्रम तदनुसार नहीं बदला गया है ।

4. ‘The following is a translation of the reply which I received from the Brahmans of Kangra in A.D. 1859, regarding the *Sapta Rishi Kāl*—‘At the begivning of the *Kaliyuga* the seven *Rishis* (or Stars of Ursa Major) had been 75 years in one *Naksatra* (*Magha*), and they remained in the same for 25 years longer. These 25 years are the amount of difference between the total number of *Kaliyuga* years elapsed and the number of centuries

of years of the Hill cycle (*Pahari Samvat*) upto the present date. Thus the present 1885 of the christian Era, is the *Kaliyagn* 4960 and 35 of the 60th Hill cycle or exactly, 25 years short of the number of *Kali yuga* years.'

—Cunningham, P-12

५. उस राजा (तस्य राज्ञः) से महाराजा युधिष्ठिर का ग्रहण करें तो अभिप्राय यह होगा कि वृद्ध गर्ग के समय तक राजा युधिष्ठिर के राज्य को २५२६ वर्ष बीत गए। देखें—'शक-साका', बीकानेर, सं० २०४८ का परिशिष्ट—१ पृ० ४३
6. 'The *Rishis* had completed three revolutions less 25 years in the *Dwapara-yuga* before the *Kaliyuga* began.

—Cunningham, P-12

7. Pargiter's text (DKA), 15-20.

८. वायुपुराण (५७.१७-१८); ब्रह्माण्ड पुराण (२.२६.१७-१८); मत्स्यपुराण (१४१.१३) और लिंगपुराण (४१.१८)।

९. (i) वायुपुराण (२३.२२६) के अनुसार वैवस्वत मनु से कृष्ण पर्यन्त संकड़ों राजा हुए हैं। अकेले सूर्यवंश के इतिहास में १०७ राजाओं के नाम मिलते हैं। उस वंश के राजा ककुत्स्थ से कौवज्द (Kauzda) संवत्सर चला था जो राजा देवळ के समय (विक्रम पूर्व ५४३ में) ८६४० वर्ष पूरे होने पर प्रयोग शून्य किया गया और माघ के चन्द्र दर्शन रविवार से नया ऐतज्मा संवत्सर चालू हुआ (मल्लिकिकर, भाग-२ पृ० १३४)।

(ii) चम्पा से मिले राजा सत्य वर्मा के लेख सं० ७२० में लिखा है कि राजा सगर (सूर्यवंश के ४४वें राजा) ऐतज्मा संवत्सर से ५१६१ वर्ष पूर्व हुए—“पंच सहस्र नवशतैकादशे विगत कलिकलङ्क द्वापरवर्षे श्री विचित्रसगर संस्थापितश्श्रीमुख लिङ्गदेवः। तस्य सकल कोष्ठागार रजत रत्नहेमकदवकलशभृङ्गारूक्म दण्ड सितातपत्रचामर हैमघटादि परिभोगा वर्द्धमाना भवन्ति स्म। ततश्चिरकाल कलियुग दोषाद्देशान्तर प्लवागत पापनर भुग्ण संहृतेषु प्रतिमा परिभोग भूषणेषु शून्योऽभवत्। पुनरद्यापि तत्पुण्य कीर्त्य विनाशाय श्री सत्यवर्म्म नरपति विचित्र सगर मूर्त्ति रिच माघवसप्त शुक्लपक्षे यथापुरा श्री भगवतीश्वर मुखलिङ्ग मतिष्ठयत्।” अर्थात् देवळ शक (ऐतज्मा संवत्सर) ७२० से ५१६१ वर्ष पूर्व राजा सगर ने जो भव्यमूर्त्ति स्थापित की थी वैसी ही शोभापूर्वक नई मूर्त्ति राजा सत्य वर्मा ने पुनः प्रतिष्ठापित कर दी। तदनुसार सगर काल=५१६१—७२०+५४३=५७३४ विक्रम पूर्व अथवा ५७३४—३०४३=२६९१ वर्ष महाभारत (कलि) पूर्व।

१०. हमारी समझ में २७ नक्षत्रों का निश्चय महर्षि लगध (विक्रम पूर्व १४वीं सदी) ने किया। इससे पूर्व दो प्रकार की स्वतंत्र गणनाएं थीं—'तेषां च सर्वेषां नक्षत्राणां कर्मसु कृत्तिकाः प्रथमं आचक्षते। श्रविष्ठा तु संख्यायाः।” संभवतः वैदिककाल में

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

१८६

नक्षत्रों की विभागात्मक पद्धति भी नहीं थी। सर्व प्रथम मैत्र्युपनिषद् में ये विभाग दृष्टिगत होते हैं—‘सूर्यो योनिः कालस्य । तस्यै तद्रूपं । यन्निमेषादिकालात्संभूतं द्वादशात्मकं वत्सरं । मघाद्यं श्रविष्ठाद्यं । आग्नेय क्रमेण । उत्क्रमेण सार्पाद्यं श्रविष्ठाद्यं सौम्यं’—प्रपाठक-६ । आगे फिर कहा है—‘नक्षत्राणि वसवः पुरस्तादुद्यन्ति तर्पन्ति वर्षन्ति स्तुवंति पुनर्विंशति अन्तर विवरेण ईक्षांत’ (प्रपाठक-६) । इससे स्पष्ट है कि घनिष्ठा नक्षत्र से गणना होती थी । महर्षि लगध ने कहा भी है—

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्यचंद्रमसावुदक् ।

सार्पाद्यं दक्षिणाकंस्तु माघश्रावणयोः सदा ॥

विक्रम पूर्व छठे शतक में वर्तमान रहे वृद्ध गर्ग ने भी इस कथन की पुष्टि की है—

कालज्ञानं महत्पुण्यं कालश्चादित्य उच्यते ।

स च माघस्य शुक्लादौ सोमवासवयोः सह ॥

सहोदयं श्रविष्ठाभिः प्रस्थायान्हामुदङ् मुख ॥

कि माघ शुक्ल प्रतिपदा को आदित्य घनिष्ठा योगतारा और चन्द्रमा के साथ श्रविष्ठा में उदङ् मुख होता है ।

११. शतपथ ब्राह्मण (२.१.२)। विशेष विवरण के लिए बाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड—अध्याय-२२ में द्रुमुकुल्य विवरण देखें (राजस्थानी मरुप्रदेश का इतिवृत्तात्मक विवेचन, बिसाऊ सन् १९६१ पृ० २१-२२ पर उद्धृत)।

१२. जैन काल गणना में २८ नक्षत्रों की मान्यता है । ठाणम् (६.७४) में १५ मुहूर्त का एक भद्रा नक्षत्र भी बताया गया है । अभिजित् १९ घटियों का माना जाता है । अभिजित् का कालमान २७०० वर्षों में ७२ वर्ष के तुल्य होता है इसलिए प्रत्येक चौथे शतक में १८ वर्ष बढ़ाने की भी परम्परा रही है । ठाणम् २।३२३ और ४।३३२ के अनुसार नक्षत्र गणना कृत्तिका से है किन्तु ७।१४६-४९ के अनुसार उसे अभिजित् से करना चाहिए ।

१३. (i) अङ्गिरसो नः पितरः नवग्वा

—ऋग्वेद, १०.१४.६

(ii) तमुनः पूर्वं पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासः

—ऋग्वेद, ६.२२.२

(iii) ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे

—ऋग्वेद, २.३४.१२

(iv) येन दश मासो नवग्वाः । यया तरन् दशमासो नवग्वाः

—ऋग्वेद, ५.४५.७

(v) अथातो यज्ञक्रमा-अग्न्याधेयमग्नाध्येयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्नि-होत्राद् दर्शपूर्णमासौ दशपूर्णमासाभ्यामाश्रयणमाश्रयणाच्च चतुर्मास्यानि चातु-

मसिभ्यः पशुबन्धः पशु बन्धादग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद् वाजपेयो वाजपेयावश्वमेधोऽश्व मेधात् पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्व मेधः सर्व मेधात् दक्षिणावन्तो दक्षिणावदभ्येऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रागतिष्ठन्ते वा एते यज्ञ क्रमाः ।
—गोपथ, ५.७

(vi) ऋग्वेद (१.६२.४)—‘स सुष्टुभा सस्तुभा’—आदि मंत्र पर सायण भाष्य —‘आङ्गिरसो द्विविधाः । सत्रयागमनुतिष्ठन्तो ये नवभिर्मासैः समाप्य गतास्ते नवग्वाः (नवग्वा नवनीत गतय—निरुक्त, ११.१६) इति यास्को व्याचख्यौ । ये तु दशभिर्मासैः समाप्य जग्मुस्ते दशग्वाः ।’

१५. शतपथ ब्राह्मण में सप्तर्षियों के नाम लिखे हैं— गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, यमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि । महाभारत में सप्तर्षि क्रमशः इस प्रकार लिखे हैं —मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, ऋतु, पुलस्त्य, वसिष्ठ । पुराणों में एक अन्य क्रम इस प्रकार है—भारद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और अत्रि । सप्तर्षिज अंगिरापुत्र बृहस्पति हैं ।

१५. ठाणम् (जैन विश्व भारती, लाडनू) २.४४३-४६, ३.५२८-२९, ५.२३७, ७.१४५, ८.११७ और ९.६३ ।

१६. ऋग्वेद (१०.८५.१३) में एक मंत्र इस प्रकार है—

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत् ।

अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

अर्थात् कन्या के लिए दी गई गो मघा में यम गृह को और फाल्गुनी में सविता के यहां होकर सोमगृह को लाई जाती हैं ।

१७. वर्षाणां द्वादशशतीं षष्टिः षड्भिश्च संयुता ।

भूभुजां काल संख्यायाः तद् द्वापंचाशतो मता ॥

+ +

अष्ट षष्ट्यधिकाब्द शतद्वाविंशतिकं नृपाः ।

अयीपलंस्यते कश्मीरान्गोगन्दाद्याः कलौ युगे ॥

18. The Sacred books of China, Tr, by James Legge Pt. I, 1990, P-13 & 23.

१९. इण्डियन एन्टिक्वेरी भाग-२८ पृ० २४५ और आगे तथा भारतीय ज्योतिष, बंबई-संस्करण, १९६३ पृ० १८१ ।

२०. कल्पवृक्षरूपरहिता पाण्डवाब्दाः प्रकीर्त्तिता ।

बाणाब्धिगुणदस्त्रोना २३४५ शूद्रकाब्दा गतेर्गलिः ॥७१॥

गुणाब्धि व्योम रामोना ३०४३ विक्रमाब्दा कलेर्गताः ॥

—कंचु यल्लार्यभट्ट विरचित ज्योतिष दर्पण पृ० २२ (अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर MS No. ४६७७)

२१. कीलहार्न की उत्तर भारत की अभिलेख सूची (एपी. इ. जिल्द ५) में क्रमांक १४४३ से १४५८ तक १६ शिलालेखों में सप्तर्षि संबत्सर के प्रयोग बताए गए हैं ।

□ □

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

१९१



*सप्तर्षि मण्डल परिचालन

ऊपर ब्लॉक में 'नोर्थ स्टार' को केन्द्र मान कर बना आकाश दिखाया गया है। 'नोर्थ स्टार' लघु सप्तर्षि मण्डल का सातवां तारा है जो अपनी धुरी पर घूमता है और शेष तारे उसके चारों ओर। बृहत् सप्तर्षि मण्डल का सातवां तारा भी अपनी धुरी पर घूमता है किन्तु वह बाकी तारों के साथ चौतरफ घूमते हुए 'नोर्थ स्टार' के चारों ओर भी घूमता है।

ब्लॉक में दोनों सप्तर्षि मण्डलों के नीचे दाहिने, कन्या राशि से ऊपर स्वाति नक्षत्र (Arcturus) है। यह सूर्य से ८० गुणा चमकीला है और हमारी पहचान के अनुसार प्राचीन ध्रुव है। खगोलविदों के अनुसार यह हजार वर्ष तक एक ही स्थान पर परिभ्रमण करता है, फिर अपना स्थान बदलता है। इससे ऊपर बृहत् सप्तर्षि मण्डल के द्वितारे की सीध में देखें तो आर्द्रा (Betelgeuse) बाईं ओर दीखता है और लघु सप्तर्षि मण्डल के द्वितारे की सीध में देखें तो दाहिने दीख पड़ता है।

सारे नक्षत्र दाहिने से बाएँ घूमते हैं, इसलिए आर्द्रा के बृहत् सप्तर्षि तारों से दाहिनी ओर आ जाने पर सप्तर्षियों का वर्तमान आर्द्रा नक्षत्र-भ्रमण पूरा हो जाएगा—ऐसा माना जा सकता है।

—लेखक

हिन्दी काव्य में पंच महाव्रत

□ डॉ० देवदत्त शर्मा

जैनाचार-शास्त्रों में पांच महाव्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें से प्रथम है, अहिंसा। प्राणीमात्र के प्रति जो पूर्ण संयम है, वस्तुतः सही अर्थों में वही अहिंसा है। अहिंसक आचार एवं विचार से ही मानव का उत्थान होता है। अतः आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है—

साधना का पथ अहिंसा महा-अणुव्रत रूप है,
मनोवाक्कायिक नियन्त्रण शान्ति दान्ति स्वरूप है,
'संयमः खलु जीवनम्' ही अमल जिसका घोष है,
प्रमुखता पुरुषार्थ की यह आत्म-बल को पोष है।

(भरत मुक्ति, पृ० २०३)

डॉ० छैल बिहारी गुप्त ने तो अहिंसा को धर्म के कारण के साथ-साथ उसे जीव को सुरक्षा प्रदान करने वाला अमोघशास्त्र भी कहा है—

त्रस्त जीवों की सुरक्षा काम
श्रेष्ठ गुण का है यही आगार
आदि कारण धर्म का साकार।

(तीर्थंकर महावीर, पृ० २७०)

हिंसा वृत्ति को साधन के रूप में ग्रहण करने से मानवीयता का संपोषण कदापि संभव नहीं हो सकता। मानवता के सतत् एवं सुष्ठु विकास के लिए अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि साधन है। इसी से विश्व में सुख-शान्ति स्थापित हो सकती है। इन्हीं भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए धन्यकुमार जैन ने 'परम ज्योति महावीर' महाकाव्य में कहा है—

सुख शान्ति विश्व में ला सकता,
है मात्र अहिंसा धर्म स्वयं।
औ, पूर्ण अहिंसा पालन से,
तो क्षय हो सकते कर्म स्वयं ॥

(परमज्योति महावीर, पृ० ५३८)

'पाशर्वनाथ' के प्रणेता चन्दनमुनि ने अहिंसा की महत्ता को प्रस्थापित करते हुए अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

१६३

‘दुनियां में अहिंसा ही, सुख स्वर्ग दिखाती है
नकों के महादुःख से, प्राणी को बचाती है ।

(पार्श्वनाथ, पृ० २६३)

अहिंसा का पारमार्थिक लक्ष्य आत्मशुद्धि है और उसका मार्ग कषाय-विजिगीषा है । यह सभी व्रतों का मूल है । रमेश चन्द्रशास्त्री ने इसी मन्तव्य को अपने प्रबन्ध काव्य ‘देवपुरुष गांधी’ में कहा है—

काम-क्रोध-भय-लोभ-मोह की,
मनोवृत्ति का त्याग सर्वदा ।
शुद्ध अहिंसा कहलाती है,
वही मनुज को होती फलदा ।
सभी व्रतों का मूल अहिंसा,
यही महाव्रत कहलाती है ।

(देवपुरुष गांधी, पृ० २०१)

जैनाचार का दूसरा महत्त्वपूर्ण महाव्रत है, सत्य । मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सत्य का आचरण करना और सूक्ष्म असत्य का भी कभी प्रयोग न करना सत्य महाव्रत है । रमेशचन्द्र शास्त्री ने सत्य की महिमा का गुणगान करते हुए उसे विश्व में एक महान् मन्त्र बतलाया है—

‘सत्य है जग में मन्त्र महान् ।
सत्य-सुधा को पीकर मानव बनता देव महान् ॥

×

×

अणु-अणु में है सत्य तत्त्व का व्यापक विपुल प्रसार ।
सत्य-शक्ति का अमित स्रोत है, खाता कभी न हार ॥

(देवपुरुष गांधी, पृ० ५२)

सत्य से ही यश एवं कीर्ति अर्जित होती है । श्रमण के लिए सत्य महाव्रत होता है वहां श्रावक के लिए यह अणुव्रत के रूप में होता है । डॉ० छैल बिहारी गुप्त ने सत्य-अणुव्रत के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहा है—

सत्य अणुव्रत नाम है पूजा,
सत्य ही की हो जहां पूजा,
झूठ निन्दा वचन का हो प्याग,
झूठ को समझे कि विषधर नाग,
सत्य से यश धवल जाता फैंल,
कला-विद्या से सदा हो खेल ।

(तीर्थंकर महावीर, पृ० २७०)

जैनाचार का तीसरा महत्त्वपूर्ण व्रत है अस्तेय । स्वामी की इच्छा या आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना या अपने अधिकार में करना अदत्तादान है । पंडित

अनूप शर्मा ने अस्तेय महाव्रत की विवेचना करते हुए कहा है कि सच्चे अर्थों में वही ब्राह्मण है जो, चाहे वस्तु कैसी भी हो बिना निर्देश के ग्रहण न करे—

‘स-चित्त हो, या कि अचित्त वस्तु हो,
अनल्प हो, या कि अभूरि द्रव्य हो,
जिसे न हो ग्राह्य निर्देश के बिना,
वही सुना ब्राह्मण लोक में गया ।’

(वर्द्धमान, पृ० ५३१)

इसी प्रकार डॉ० छैल बिहारी गुप्त ‘तीर्थंकर महावीर’ में कहते हैं—

‘तीसरा अणुव्रत अचौर्य सुकाम,
दूसरे धन पर न आए ध्यान,
धन यदि मिल जाए मग चलते,
बिन्दु भर भी जो नहीं ढलते ।’

(तीर्थंकर महावीर, पृ० २६१)

जैनाचार शास्त्रों में इसकी दृढ़ता के लिए पांच भावनाएं हैं जिनपर चलकर सत्य महाव्रत का पालन किया जाता है। ये पांच भावनाएं हैं—सोच विचार कर वस्तु की याचना करना, आचार्यादि की अनुमति से भोजन करना, परिमित पदार्थ ग्रहण करना, पुनः-पुनः पदार्थों की मर्यादा करना तथा साथी श्रमण से परिमित वस्तुओं की याचना करना।

जैनाचार का चौथा महाव्रत है ब्रह्मचर्य। मानसिक बल, शारीरिक स्वस्थता और आत्मिक प्रकाश की रक्षा के लिए मन, वचन एवं कार्य से संभोग का सर्वथा परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। निरंजन सिंह ‘योगमणि’ ने अपने महाकाव्य ‘शिव चरित’ में ब्रह्मचर्य के इसी स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहा है—

मन कर्म वचन तीनों से
सर्व अवस्थाओं में यह रीति,
मैथुन का हो नितान्त अभाव
तो यही ब्रह्मचर्य की नीति ।

(शिवचरित, पृ० ६७४)

पं० अनूप शर्मा ने इन्हीं भावों को परिपुष्ट करते हुए कहा है—

‘न चित्त से या तन से न वाक्य से
विचारता मैथुन प्राणी-मात्र में,
सदैव संस्तुत्य सभी प्रकार से
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र में गया ।

(वर्द्धमान, पृ० ५३१)

डॉ० छैल बिहारी गुप्त ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत की विवेचना करते हुए पर-स्त्री-गमन के निषेध का निर्देश दिया है। वे कहते हैं—

खण्ड १७, अंक ४ (जनबरी-मार्च, ६२)

१६५

सर्पिणी है दूसरे की नारि
 हो सदा मन में कि सुवृद्ध विचार,
 जो स्वयं की पत्नी से सन्तुष्ट
 भावना उसकी सदा ही पुष्ट ।

(तीर्थंकर महावीर, पृ० २६१)

जैन शास्त्रों में इस महाव्रत की परिपालना के लिए भी पांच भावनाएं निर्दिष्ट हैं । ये हैं—स्त्री कथा न करना, स्त्री के अंगों का अवलोकन न करना, पूर्वानुभूत काम क्रीड़ा का स्मरण न करना, अधिक भोजन न करना तथा स्त्री से सम्बद्ध स्थान में न रहना ।

जैनाचार का पांचवा महाव्रत है, अपरिग्रह । संग्रह अथवा आसक्ति का पूर्ण परित्याग ही अपरिग्रह है । यह अर्थ वैषम्य जन्य ज्वलंत सामाजिक समस्याओं का सुन्दर समाधान तो प्रस्तुत करता ही है साथ ही विश्व शांति का भी मूल-मंत्र है । श्री बीरेन्द्र प्रसाद जैन ने परिग्रह को ही सांसारिक कलह का मूल बताते हुए अपरिग्रह पर बल दिया है—

‘हैं द्वेष-कलह-संघर्ष लोक के सारे
 इस दनुज परिग्रह के ही सदा सहारे ।

× ×

निस्सीम कामनाओं की बांधो सीमा,
 तुम करो परिग्रह का शासन क्षय धीमा ।

(पार्श्व प्रभाकर, पृ० २०२)

रमेश चन्द्र शास्त्री ने अपरिग्रह को ही अर्थजन्य समस्याओं के समाधान का संबल कहा है—

‘धन-वैभव से थके पिटे, जर्जर
 मानव का अपरिग्रह ही सम्बल,
 निरुद्देश्य जन के जीवन की भी
 करता सभी समस्याओं का हल ।

(देवपुरुष गांधी, पृ० १४६)

परिग्रह के कारण ही संसार के अधिकांश दुःख उत्पन्न होते हैं । भौतिक पदार्थों पर आसक्ति रखने से विवेक नष्ट हो जाता है । आत्मा अपने स्वरूप से विमुख होकर और राग-द्वेष के वशीभूत होकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है । अतः न केवल समाज में व्याप्त विविध वैषम्य को दूर करने में अपितु समसामयिक जीवन में भी अपरिग्रह का महत्वपूर्ण स्थान है । यही कारण है कि अपरिग्रह की अभिव्यक्ति हमें ‘उर्मिला’, ‘रामराज्य’, ‘तारकवध’ तथा ‘सारथी’ प्रभृति महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है ।

इस प्रकार उक्त विवेचन से वह स्वतः सिद्ध है कि आधुनिक कवियों पर जैनाचार का व्यापक प्रभाव पड़ा है और उन्होंने अपने-अपने काव्यों में स्थान-स्थान पर जैनाचार को अभिव्यक्ति प्रदान की है । □□

जैन दर्शन और पाश्चात्य मनोविज्ञान की तुलना

□ बी० रमेश जैन

यूरोपीय पुनर्जागरण के बाद तीन मनीषी यूरोप में उभरे थे—१. मार्क्स २. आइन्स्टाइन व ३. फ्राइड। मार्क्स ने साम्यवाद, आइन्स्टाइन ने गणित व भौतिक विज्ञान एवं सिगमन फ्राइड ने मनश्चिकित्सा में अनुसंधान कर संसार को नये आयाम प्रदान किए। सिगमन फ्राइड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों में प्रमुख है—१. दमन २. अचेतन ३. लुब्धा ४. व्यक्तित्व विन्यासन और ५. स्वप्न का सिद्धान्त।

इन सिद्धान्तों को सार रूप में कहे तो फ्राइड के अनुसार, मन के तीन स्तर हैं—चेतन, अवचेतन व अचेतन। चेतन मन स्थूल या सतही है। इस पर जो भी विचार व इच्छाएं उभरती हैं उनमें से जिन विचार व इच्छाओं को अप्रिय, प्रतिकूल या सामाजिक मर्यादाओं के कारण दबा देते हैं, वे विचार व इच्छाएं अचेतन में चले जाते हैं। जो अवसर पाकर उभर आते हैं। कभी-कभी ये दमित इच्छाएं व विचार, मानसिक व शारीरिक रोगों का कारण बन जाते हैं। इसी तरह हमारे व्यक्तित्व के भी तीन पक्ष होते हैं। १. इदम् २. अहम् ३. नैतिक मन। इदम् में सभी प्रकार की इच्छायें जन्म लेती हैं, अहम् का संबंध संसार की यथार्थता से होता है, और नैतिक मन द्वारा हम उचित, अनुचित, आदर्श मान्यताएं स्थापित करते हैं। नैतिक मन द्वारा जब अनुचित व अप्रिय विचारों व इच्छाओं का दमन किया जाता है तब वे दमित इच्छाएं अचेतन मन में पहुंच जाती हैं।

फ्राइड के स्वप्न सिद्धान्त के अनुसार अतृप्त व दमित इच्छायें (इदम् में निहित) स्वप्न में उन्मुक्त हो जाती हैं।

लेकिन स्वप्न में इच्छाओं की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप से न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होती है। अर्थात् प्रतीक, कल्पना इत्यादि के माध्यम से वे दमित इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं।

कभी-कभी विचार या कामनायें इतनी तीव्र होती हैं कि स्वप्न में भी वे पूरी नहीं होती तब मानसिक व शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेती हैं। जिसमें मिरगी के दौर, हीन भावना, मानसिक तनाव, हिस्टीरिया, रक्त संचालन का एकाएक बढ़ जाना या एकदम कम हो जाना, हृदय का, फेफड़ों का, गुदों का व लीवर का ठीक ढंग से कार्य न करना, आमाशय में अति एसिड का उत्पन्न हो जाना, हाथ पैर को लकवा मार जाना जैसे रोग होने की संभावना रहती है।

अब प्रश्न उठता है कि वे अप्रिय इच्छाएं या विचार मन में उठते ही क्यों हैं जिससे

कि उसे दबाना पड़े। इसके लिए पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिसके कारण वह क्रियाशील होता है। इन मूल प्रवृत्तियों में कुछ ऐसी होती हैं, जो नैतिक मन के कारण प्रतिबन्धित होती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों में कुछ हैं—१. जीने की आकांक्षा, २. आहार की वृत्ति ३. विनाश प्रवणता, ४. वासनात्मकता, ५. संग्रह प्रवृत्ति, ६. रचना प्रवृत्ति, ७. पलायन (भय) ८. जुगुप्सा, ९. युयुत्सा १०. पैनुक, ११. यूथ चारिख (समूह शीलता इत्यादि)।

इसके अलावा फ्राइड ने लुब्धा के सिद्धान्त को भी प्रतिपादित किया है। जिसके अनुसार मनुष्य के दमित विचार व इच्छाओं में जिन विचारों का प्रमुख स्थान है, वह है—मनो-कामवासनाओं का। जन्म से लेकर बुढ़ापे तक मनुष्य में यही विचार अत्यधिक दमित रहता है। विचारों के तीव्र दमन से जब मानसिक तनाव बढ़ जाता है, तब शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। मनश्चिकित्सक इन शारीरिक व्याधियों को दवाओं के माध्यम से दूर करने का यत्न करता है। साथ ही साथ मानसिक चिकित्सा भी करता है। इस मनोचिकित्सा उपचार विधि में सम्मोहन, स्वतन्त्र साहचर्य, स्वप्न विचार, हस्त स्पर्श, संकेत व संकल्प आदि के प्रयोग करता है।

१९ वीं सदी में जर्मन फ्रडरिक एलिस्टन मैस्मर नामक मनोवैज्ञानिक हुआ। जिसने मैस्मिरेज्म और सम्मोहन द्वारा रोगोपचार की विधि निकाली जिसके द्वारा मनश्चिकित्सक पहले रोगी को निद्रावस्था में ला देता है। फिर हस्त स्पर्श व संकेत द्वारा वह रोगी के दमित विचारों को उभारता है। सम्मोहित अवस्था में स्मरण शक्ति का अद्भुत विकास हो जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी अपनी बचपन से लेकर तब तक सारी बातें कुंठाएं, द्वेष, घृणा, वासना, विकार इत्यादि जो भी उसने दबा रखा है, खुलकर सामने रख देता है।

इसी तरह चिकित्सक रोगी के स्वप्न का भी विश्लेषण करता है। स्वप्न में पांच क्रियाएं होती हैं—विस्थापना, संक्षिप्तीकरण, प्रतीकीकरण, नाटकीकरण व अनुविस्तार। इन मानसिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर चिकित्सक रोग की जड़ तक पहुंचता है। स्वप्न में दमित विचार व कामनाएं अयथार्थ धरातल पर पूरी होती हैं। अतः स्वप्न के प्रतीकों की व्याख्या से व्यक्ति की विचारधारा एवं अन्य प्रक्रियाओं को जाना जा सकता है।

उपरोक्त विधियों द्वारा जब रोग के मूल कारणों का पता चलता है, तब चिकित्सक उपचार प्रारम्भ करता है।

इस उपचार विधि में उनका प्रबल समर्थन रहता है कि दमित विचारों, इच्छाओं व कामनाओं को भोग लो। जैसे किसी ने परिस्थितिबश क्रोधावेश को दबाये रखा है, तो चिकित्सक उसे सम्मोहित कर, उसके आवेश का कारण जानेगा कि किस कारण वह क्रोधित हुआ है? सम्मोहित अवस्था में ही वह रोगी के हाथ में कोई वस्तु जैसे तकीया देगा और कहेगा कि यह वही है जिसने तुम्हें क्रोध दिलाया। सम्मोहित अवस्था में रोगी उसी वस्तु पर टूट पड़ता है। क्रोध की भावदशा के अनुसार अगर क्रोध तीव्र रहा तो

उसके टुकड़े कर फैला देता या मसल देता है। इस तरह उसकी क्रोध की प्रथि निकल जाती हैं।

इसके अलावा संकल्प द्वारा भी रोगोपचार किया जाता है। जैसे किसी की कुव्यसन की आदत छुड़ानी है, तो सम्मोहित कर रोगी को कुव्यसन के दोषों को बताया जाता है। फिर नये संकल्प द्वारा उसमें इच्छा शक्ति को जागृत किया जाता है। जिसमें परामर्श, समाजीकरण, पुनर्शिक्षण, संपूर्तिकरण, आदि विधियों का सहारा लिया जाता है।

इस प्रकार फ्राइड के सिद्धान्तों का विश्लेषण करे, तो बहुत हद तक वह नियतिवादी माना जा सकता है। जब कि फ्राइड का ही साथी मनोविश्लेषक एलफ्रेड एडलर प्रयोजनवादी है। एडलर फ्राइड के कामभावना सिद्धान्त से सहमत नहीं था। एडलर के अनुसार व्यक्ति का सभी व्यवहार कामशक्ति से प्रेरित नहीं होता वरन् इच्छा व संकल्प शक्ति से प्रेरित होता है। सभी मानसिक व्याधियां काम वृत्ति के दमन के कारण नहीं होती बल्कि हीनभावना के कारण होती हैं। मनुष्य अपनी संकल्प शक्ति से उन हीन भावनाओं की क्षतिपूर्ति करे तो महान् कार्य कर सकता है।

तो ये रहा फ्राइडवाद या पाश्चात्य मनोविज्ञान। अब जैन दर्शन की बात लें, फिर इनका तुलनात्मक अध्ययन करे।

जैसे पहले बताया गया कि यूरोपीय पुनर्जागरण के समय तीन मनीषि उभरे थे— मार्क्स, आइन्स्टीन व फ्राइड। इन तीनों महाशयों ने क्रमशः साम्यवाद, सापेक्षवाद व मनोविज्ञान विचारधारा को प्रारम्भ किया। इसी दिशा में अगर जैन दर्शन का मनन किया जाय तो “मिति मे सव्वे भूएसु” की गाथा मार्क्स के साम्यवाद का समर्थन करती नजर आती है। इसी तरह जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त “अनेकान्तवाद” भी आइन्स्टाइन के “सापेक्षवाद” से कुछ भिन्न नहीं है। कर्मवाद जैन दर्शन का आधार स्तम्भ है, जिसकी ही स्पष्ट छाया हम फ्राइडवाद में पा सकते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार मात्र मनुष्य ही नहीं, सभी चेतन सांसारिक जीवात्मा निरन्तर कर्म बंध करती रहती है। कर्म बन्ध होता है—मिथ्यात्व, अन्नत, प्रमाद, कषाय और आश्रवों के माध्यम से। जब तक उन कर्माश्रवों का संवर एवं पूर्व अर्जित कर्म की निर्जरा (क्षय) नहीं होती तब तक वह सुख (आनन्द) को प्राप्त नहीं कर पाता अब प्रत्येक जीवात्मा में यह सामर्थ्य नहीं कि सभी कर्मों का निरन्तर क्षय करता चला जाय अतः वह कुछ आश्रवों का क्षय करता है तो कुछ कर्मों का उपशमन (दमन), जिसे क्षयोपशान कहा जाता है। जैसे कि फ्राइडवाद मानता है कि दमन (उपशमन) की प्रतिपूर्ति होने पर ही मनुष्य सुखानुभव कर पाता है तो हमारे जैनागमों में भी बताया गया है कि आठवें गुणस्थान के बाद दो श्रेयिणां निकलती है, उपशमन और क्षपक श्रेणी। नौवीं में क्रोध मान और माया को, दसवीं में लोभ को, उपशान्त श्रेणी वाला ग्यारहवीं अवस्था में मोह को दबाता हुआ बढ़ता है इसलिए उसके अन्तर्मुहूत के बाद उससे नीचे के गुणस्थानों में जाना अवश्यभावी बन जाता है, जबकि क्षपक श्रेणी वाला क्रमशः क्षय करते

हुए बढ़ता है अतः बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर तेरहवीं अवस्था में संपूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन दर्शन के गुणस्थानों के सिद्धान्त को ही फ्राँडवाद में संकुचित रूप से 'दमन के सिद्धांत' के रूप में दर्शाया गया है। संकुचित रूप में इसलिए कि—फ्राँड आदि की मनश्चिकित्साओं ने मात्र मनुष्य जाति का ही विश्लेषण किया, जब कि जैन-दर्शन संपूर्ण जीवात्मा को लेकर एवं पूर्वजन्म के कर्म संस्कारों को भी साथ लेकर चलता है।

जैन-दर्शन में मन की परिभाषा देते हुए कहा गया कि—जिससे मनन किया जाय विचारा जाए उसे मन कहते हैं किन्तु जैन-दर्शन मात्र मन को ही सब कुछ नहीं मानता जैसे कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक आज तक भी मानते आ रहे हैं। मन से आगे की चीज है आत्मा। आत्मदर्शन भारतीय सभ्यता व संस्कृति की मौलिक विशेषता है। पाश्चात्य मनश्चिकित्सकों ने मन से आगे कार्य प्रारम्भ ही नहीं किया, हमेशा वहीं तक उलझे रहे। हम भारतीय आत्मा की ही बातें करते रहे कभी उस तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया और पाश्चात्य लोग मन तक ही उलझे रहे। अगर हम इन्द्रिय, मन इत्यादि प्रारम्भिक अवस्थाओं पर विचार करे और पाश्चात्य वैज्ञानिक आत्मा, शुद्धात्मा इत्यादि अन्तिम अवस्थाओं को लेकर अध्ययन, अनुसंधान करे तो बहुत कुछ क्रान्ति मानव जीवन में हो सकती है। जहाँ हम प्रारम्भिक अवस्थाओं को छोड़ सीधे अन्तिम अवस्थाओं की बात करते हैं, वही वे प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही उलझे हैं आवश्यकता है, दोनों में सामंजस्य हो और तुलनात्मक अध्ययन हो।

जैन दर्शन में मन को दो भागों में विभक्त किया गया है—द्रव्य मन और भाव मन। सांसारिक क्रिया कलापों की जानकारी इन्द्रियों के माध्यम से द्रव्य मन को होती है। राग-द्वेष आदि भावों से भाव मन उनको ग्रहण कर विश्लेषण करता है। भाव मन की आसक्ति व तीव्रता के आधार पर (कषायों की तारतम्यता-अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान व सज्ज्वलन) कर्म बन्ध होता है। जहाँ तक फ्राँडवाद के अचेतन मन का प्रश्न है उसकी तुलना हम कर्मण शरीर से कर सकते हैं। हमारे हर दमित मन वचन काय के व्यापारों का संबंध कर्मण शरीर से होता है। आज मनोविज्ञान के क्षेत्र में जितने भी शोध कार्य हो रहे हैं—वह कर्मण शरीर तक ही हो रहे हैं। जब कि जैन दर्शन के अनुसार औद्धारिक, तैजस व कर्मण शरीर से आगे है—जीवात्मा (शुद्धात्मा)।

फ्राँड कुछ मौलिक वृत्तियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इन्हीं के कारण मनुष्य क्रियाशील होता है। जैसे जीने की आकांक्षा, आहार वृत्ति, पलायन आदि। जैन दर्शन में इन्हें संज्ञाएं कहा गया है। वे दस हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ संज्ञा। ये संज्ञाएं परस्पर एक दूसरे से संबंधित होती हैं। जैसे लोक संज्ञा का यूथ चारित्व, संग्रह प्रवृत्ति की परिग्रह संज्ञा, भयसंज्ञा का पलायन इत्यादि।

कभी-कभी हम देखते हैं कि बिना प्रत्यक्ष कारण के हम भयभीत हो जाते हैं या क्रोधित हो उठते हैं। वास्तव में देखा जाए तो इसका अप्रत्यक्ष कारण होता है—कर्मण

शरीर के पूर्व बन्धित कर्म संस्कार । इस दिशा में भी शोध आवश्यक है ।

अब देखें उपचार विधि । फ्रायडवाद में जहां सम्मोहन, स्पर्श संकेत, साहचर्य विधि व संकल्प का प्रयोग किया जाता है । वहां जैन दर्शन में भी पूरी वैज्ञानिक विधि का वर्णन हुआ है । जैसे सामयिक, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखना, आलोचना, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित् आदि ।

जैनों के कुछ नित्य नियम होते हैं—जिन्हें 'आवश्यक' कहा गया है । उसमें एक है—प्रतिक्रमण । सही ढंग से समझ कर अगर यह क्रिया की जाये तो न केवल बहुत सी शारीरिक व मानसिक बीमारियों से मुक्ति हो जाए बल्कि कर्म निर्जरा भी हो ।

जैन दर्शन में सम्मोहन भी है किन्तु वह आदर्श सम्मोहन के रूप में है । जिस तरह मनश्चिकित्सक रोगी के शरीर को शिथिल कर अवचेतन में बैठी कुंठाएं व विकार की जड़ तक पहुंचता है, उसी तरह प्रतिक्रमण में एक अंग आता है—कायोत्सर्ग । अपने आप अपने शरीर को शिथिल करना । यही है—आत्म सम्मोहन की क्रिया । कायोत्सर्ग के पश्चात् आता है प्रतिक्रमण यानी १८ तरह के शल्य हो निकालने की क्रिया ।

स्वीकृत किए कर्मों से पीछे लौटना । दिन भर के हुए दुष्कृत पापों की (मन, वचन काय के द्वारा) आलोचना । फ्रायड ने जिस स्वप्न सिद्धांत की चर्चा की उसे जैन दर्शन में भी माना गया है । तभी तो स्वप्न में हुए पापों तक की भी आलोचना प्रतिक्रमण में की जाती है । जब प्रतिक्रमण से निःशल्य हुआ जाता है तब आती है संकल्प विधि । इस संकल्प विधि को "प्रत्याख्यान" कहा जाता है । ऐसा कोई शल्य जो भविष्य में बन्ध का कारण बने उसे रोकने के लिए सोच सकझ कर प्रत्याख्यान लिए जाते हैं । अपनी धारणा शक्ति व सामर्थ्य शक्ति के अनुसार । "चौदह नियम" व "तीन मनोरथ" भी इसी संकल्प विधि में ही आते हैं ।

जैन दर्शन की दूसरी प्रमुख विशेषता है—यतना । विवेकपूर्व काया, वचन व मन के योग को संचालित करना ही 'यतना' है । किसी निमित्त से कषाय का उभरना अलग बात है और उस निमित्त से जुड़ जाना अलग बात है । जब राग-द्वेष भाव का साहचर्य साथ रहता है तभी बन्ध का कारण होता है । इस साहचर्य विमुक्त दशा को ही 'वीतराग' दशा कहा गया है । क्रुष्ठा व ग्रंथि रहित साधक को ही निग्रन्थ कहा जाता है ।

फ्रायडवाद में जैसे अशुभ विचारादि को शुभ संकल्प आदि में परिवर्तित किया जाता है, वैसे जैन दर्शन में भी भावनाओं व लेश्याओं का वर्णन हुआ है । कर्मवाद के चिंतक जानते ही होंगे कि—उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, प्रदेशोदय, संक्रमण इत्यादि अवस्थाओं में कर्म निर्जरा कैसे की जाती है ।

द्रव्य या भाव मन द्वारा अनजाने में पाप शल्यों का सेवन हो जाए तो इनके लिए जैनागमों में प्रायश्चित्त का वर्णन आता है । इस प्रकार जैसा कि पहले बताया गया है कि फ्रायड केवल नियतवादी था जब कि जैन दर्शन में काल, स्वभाव, कर्म, नियति व पुरुषार्थ इन पांचों को महत्व दिया है । फ्रायडवाद की अपूर्णता इसी में झलक जाती है कि उसने कामवासना सिद्धान्त को अति महत्व दिया जब कि उसी के मित्र एडलर ने उसके इस सिद्धान्त की आलोचना की है ।

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

२० वीं सदी के आरम्भ में जन्में फ्रायडवाद की विचारधारा से भारत के अनेक मनीषी भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। जिनमें से एक है श्री रजनीश। आपके मतानुसार भी मनुष्य जाति सर्वाधिक पीड़ित है तो कामवासना से। इस संबंध में एक ही वाक्य द्वारा इस प्रसंग का उत्तर देना ठीक रहेगा कि—जैन दर्शन का अंग है—व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र। जिसमें एक स्थान पर वर्णन आता है “नारकीयों में भय संज्ञा, देव में परिग्रह संज्ञा, तिर्यचों में आहार संज्ञा और मनुष्य जाति में मैथुन संज्ञा अधिक रहती हैं।” इतनी सी बात को कि—“मनुष्य में कामवासना (मैथुन संज्ञा) अधिक रहती है” सिद्ध करने के लिए फ्रायड व रजनीश ने अपना सारा जीवन लगा दिया, तो हम सोच सकते हैं कि जैन दर्शन कितना विस्तृत, कितना गहन, व्यापक और चिन्तन युक्त है।

१९४७ में मि० कास्टर ने ‘योग और प्रतीचि विज्ञान’ नामक पुस्तक में पतंजलि के योग सूत्रों और फ्राँयड के सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि मनश्चिकित्सा के नए संप्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार “तुम सत्य जानोगे और सत्य तुम्हें मुक्त करेगा”—कहने का तात्पर्य मनोविज्ञान भी निरन्तर खोज करते-करते उस स्थान पर आ पहुंचा है—जिसे अध्यात्मिकता कहते हैं।

इस आलेख में फ्रायडवाद व जैन दर्शन के कुछ एक पहलूओं को छुआ है। इस दिशा में और गहन अनुसंधान व खोज की जाए।

□□

संदर्भ ग्रन्थः—

१. फ्राँयडवाद—ले० डॉ० मोहन व मीरा जोशी।
२. मनोविज्ञान का इतिहास—रामनारायण अग्रवाल।
३. जैन तत्व प्रकाश—श्री अमोलक ऋषि जी म० सा०।
४. जीव-अजीव—युवाचार्य महाप्रज्ञ।



योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।

किं तेन न कृतं पापं, चौरैणात्मापहारिणा ॥

जो जैसा है, वह अपने आपको वैसा नहीं दिखाता, दूसरे प्रकार का प्रदर्शित करता है। ऐसे अपनी आत्मा का अपहरण करनेवाले चोर ने कौन सा ऐसा पाप है जो नहीं किया ?

जैन संस्कृति का विराट् प्रतिबिम्ब : जैन-कला-दीर्घा

□ श्री विजयकुमार एवं श्री किशनलाल

(बीकानेर के राजकीय संग्रहालय की स्थापना इतालवी विद्वान् डॉ० तेस्सितोरी द्वारा संगृहीत मूर्ति आदि पुरातत्त्व अवशेषों के प्रदर्शन से सन् १९३७ में हुई थी। उन अवशेषों में पल्लू से प्राप्त जैन सरस्वती की दो विश्व प्रसिद्ध प्रतिमाएं भी शामिल थीं। बाद में जैन कला की और भी अनेकों कलाकृतियां एकत्र हुईं। यहां अमरसर और गौराऊ से प्राप्त कांस्य व प्रस्तर प्रतिमाओं का परिचय दिया गया है। —संपादक)

राजकीय संग्रहालय, बीकानेर में जैन कलादीर्घा की स्थापना इस क्षेत्र में पुष्पित-पल्लवित जैन-कला एवं संस्कृति के विविध आयामों को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से की गई है। सर्वविदित है कि भारतीय चिन्तन एवं मनीषा में जैन दर्शन का अपना कीर्तिमान है जिसकी अनेक संभावनाएं कला के क्षेत्र में अभिव्यक्त हुई हैं। यद्यपि प्राचीनकाल से ही जैन कला कृतियां प्रचुर संख्या में उपलब्ध होने लगती हैं परन्तु मध्ययुगीन पश्चिमी भारत में यह कला विकास के चरमोत्कर्ष पर थी। इस काल में गुजरात, सौराष्ट्र तथा राजस्थान में अपनी निजी विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करते हुए एक विशेष प्रकार की कला शैली का विकास हुआ। इस कला शैली के अन्तर्गत राजस्थान में पाषाण एवं कांस्य की प्रतिमाओं के विशाल भंडार बसन्तगढ़, अजरी, भीनमाल तथा गुजरात के अकोटा नामक स्थानों से उपलब्ध हुए। बीकानेर क्षेत्र से भी कुछ दुर्लभ नमूने मिले। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कला-सौष्ठव में बीकानेर क्षेत्र की ये प्रतिमायें मथुरा जैन कला के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

पश्चिमी राजस्थान की इस जैन कला को विराट् व्यक्तित्व प्रदान करने के उद्देश्य से राजकीय संग्रहालय, बीकानेर में एक नयी "जैन-कला-दीर्घा" की स्थापना की गई है। बीकानेर से लगभग १०० किलोमीटर दक्षिण-पूर्व की ओर आबाद अमरसर नामक ग्राम से प्राप्त १४ धातु प्रतिमाएं इस दीर्घा में प्रदर्शित हैं। १० प्रतिमाओं पर लेख भी उत्कीर्ण हैं। १०-११ वीं शताब्दी की इन धातु प्रतिमाओं में कुछ तो कला की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण हैं यथा—पंचतीर्थी, पार्श्वनाथ (सप्तफणत्रितीर्थी), स्थानक देवी प्रतिमा आदि। यहीं से प्राप्त दो पाषाण प्रतिमायें भी इस दीर्घा की शोभा बढ़ा रही हैं।

इसी क्रम में नागौर जिले के गौराऊ नामक गांव से निकली १०-११ वीं शताब्दी की २८ जैन कलाकृतियों का उल्लेख भी आवश्यक है। इनमें १० धातु प्रतिमाएं हैं तथा कुछ पर लेख भी उत्कीर्ण हैं जो वि० सं० १०२३ से १०६५ तक हैं। ज्ञात कला

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-मार्च, ६२)

२०३

सामग्री में पार्श्वनाथ, आदिनाथ के अतिरिक्त चंद्रधारी गंधर्व तथा टोंटीदार कटोरे आदि उल्लेखनीय हैं। यहां से भी तीर्थंकरों की ३ पाषाण प्रतिमायें प्रकाश में आयी हैं। १०-११ वीं शताब्दी की ज्ञात यह कला-सामग्री कला की दृष्टि से बहुत परिष्कृत है। इनके निर्माता शिल्पियों ने वर्षों तक शिल्प-साधना की होगी।'

इनके अतिरिक्त १० वीं से १६ वीं शताब्दी तक की अनेक पाषाण प्रतिमाओं ने भी इस कला-दीर्घा में स्थान पाया है, जिनमें से अधिकांश जैन चितामणि मंदिर, बीकानेर से प्राप्त की गयी हैं। कुछ प्रतिमायें इतालवी विद्वान् डॉ० एल० पी० लेस्सितोरि द्वारा संग्रह की गई थीं।

जैन कलादीर्घा में प्रदर्शित प्रमुख प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है:—

१. धातु प्रतिमायें

१. पंचतीर्थी

ऊंचाई लगभग १२ इंच। पीछे पांच पंक्तियों का संवत् १०६३ का लेख है। प्रमुख देव ध्यानस्थ मुद्रा में बैठे हैं तथा कंधों पर बाल गिर रहे हैं जिसके द्वारा ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा आदिनाथ की है। इनके दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक-एक तीर्थंकर तथा उनके नीचे मुख्य मूर्ति के दाईं ओर शिशुक्रीडारत अम्बिका व बाईं ओर घनद कुबेर आसनस्थ प्रदर्शित हैं। आसन के नीचे एक पंक्ति में कमण्डलु बंधे हुए नवग्रहों का प्रदर्शन अति भव्य है। यहां पर ८ वीं आकृति राहु की तथा ९ वीं सर्जपुच्छ सहित केतु की है। मूर्तिकला की दृष्टि से ११ वीं शती ई० की यह सुन्दर प्रतिमा है।

२. पार्श्वनाथ त्रितीर्थी

ऊंचाई में साढ़े नौ इंच। इस विशाल सप्तफणा पार्श्वनाथ प्रतिमा के पार्श्व भाग में तीन पंक्तियों का लघु लेख अंकित है। लेख ९-१० वीं शती ई० की कुटिल लिपि में उत्कीर्ण है तथा इस कथन की पुष्टि नीचे अष्टग्रह की विद्यमानता द्वारा होती है। बाद की धातु प्रतिमाओं में ग्रहों की संख्या ९ उपलब्ध होती है। धातु मूर्तिकला की दृष्टि से यह भी सुन्दर प्रतिमा है। पार्श्वनाथ के दाहिनी ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में आदिनाथ प्रस्तुत किये गये हैं। नीचे बाईं ओर अम्बिका सिंहारूढ़ है तथा दाहिनी ओर गजारूढ़ कुबेर। कुबेर ने अपने बांये हाथ में "नकुलक"—तोनी (रुपयों की थैली) तथा दाहिने हाथ में बिजोरा फल धारण कर रखा है।

३. पार्श्वनाथ

सप्तफणा प्रतिमा, ऊंचाई ६ इंच। मूर्ति के बांयी ओर शिशु क्रीडा में अम्बिका और दाहिनी ओर कुबेर उत्कीर्ण हैं। नीचे एक पंक्ति में नवग्रहों का प्रदर्शन किया गया है।

४. पार्श्वनाथ

सप्तफणा त्रितीर्थी, ऊंचाई ६ इंच। पीछे संवत् ११०४ का लघुलेख। नीचे चरण

१. गौराऊं से निकली उक्त कला-सामग्री अभी तक स्थल पर ही रखी हुई है। इन्हें संग्रहालय के लिए प्राप्त करने हेतु प्रशासनिक स्तर पर प्रयास किये जा रहे हैं। दीर्घा में उक्त सामग्री के छाया चित्र प्रदर्शित हैं।

चौकी पर एक ओर चार तथा दूसरी ओर पांच ग्रह-शीश अंकित हैं, बाईं ओर शिशु क्रीडा में अम्बिका तथा दूसरी ओर कुबेर ।

५. अश्वारूढ़ देवी

पीछे सं० १११२ आषाढ़ सुदि ५ का लेख है । जटाधारी देवी अश्वारूढ़ बैठी है तथा चारों हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध लिए हैं यथा—तीर, ढाल, धनुष इत्यादि ।

६. अद्भुत देवी प्रतिमा

प्रतिमा लचकदार मुद्रा में खड़ी है । चरण चौकी गोल है तथा देवी ने वामहस्त में कमल धारण कर रखा है । मध्यकालीन धातु कला की यह सुन्दर कृति है ।

७. पंचतीर्थों

पीछे चार पंक्तियों का लघुलेख । ऊंचाई साढ़े छः इञ्च । नीचे एक पंक्ति में ५ और ४ संख्या में क्रम से नवग्रह प्रदर्शित हैं ।

२. पाषाण प्रतिमाएं

१. नेमीनाथ

सफेद संगमरमर से बनी नेमीनाथ की यह प्रतिमा साईज में “२१ × १७ १/२” नाप की है । प्रतिमा पर शंख का निशान द्रष्टव्य है ।

२. महावीर

सफेद संगमरमर से बनी महावीर की इस प्रतिमा का लेख इस प्रकार है—“संवत् १२३२ जेष्ठ सुदी ३ श्री खंडिल्लगच्छं श्री वर्धमाल...साधु तेहउ तत्पुत्र...रा धराम्यां कारिता नव्या मूर्ति शाच ।”

३. आदिनाथ

जैसलमेरी पीले पत्थर पर निर्मित आदिनाथ की इस प्रतिमा पर संवत् १५०० मगसर सुदि २ का लेख अंकित है ।

४. अजितनाथ

सफेद संगमरमर से निर्मित अजितनाथ की इस प्रतिमा पर, संवत् १५०१ वैशाख सुद २, का लेख अंकित है । प्रतिमा पर चिन्ह के रूप में हाथी भी अंकित है ।

५. महावीर

सफेद संगमरमर से निर्मित महावीर की इस प्रतिमा पर संवत् १५०१ वैशाख सुद ३ का लेख अंकित है । चिन्ह के रूप में सिंह भी चित्रित किया गया है ।

६. महावीर

पीले जैसलमेरी पत्थर पर निर्मित महावीर की इस प्रतिमा पर संवत् १५२१ माघ सुद १२ का लेख उत्कीर्ण है ।

□ □

गंगनहर

रंगातरंगा किमु नाम गंगा, नो नो तदुत्था सलिल-प्रणाली ।
भगीरथः कोऽपि किमत्र जातो, न ज्ञायते तेऽद्य युगे कियन्तः ॥१॥

कल्लोलमालाकुलिताभिरद्भिः, द्वारप्रदेशे पतिताभिरुच्चैः ।
संघर्षशीलाभिगतासवस्त्रा, विचित्रवेशा किल नर्तकीव ॥२॥

घोषोऽनुलस्तद् विपुलं शरीरं, प्रकंपितं सूचयतीति सत्यम् ।
अस्मिन् युगे जल्पति यः स एव, मुख्योऽम्बुनापि प्रतिबुद्धमेतत् ॥३॥

निम्नं गतं वारि करोत्यनिम्नं, पृष्ठागतं वार्यंऽपरं स्ववेगात् ।
ऊर्ध्वगमं याति पुनश्चनिम्नमुद्धारयेत् कः खलु निम्नवृत्तिम् ॥४॥

रोमोद्गमं द्रष्टुरिह प्रकृत्या, बिन्दूद्गमो वृद्धिमवाप्तुकामः ।
वातेरितो व्योम विहारहारी, स्पृष्टुं समस्तान् पथिकान् विलोलः ॥५॥

अर्थात् गंगनहर को देखकर लगा कि क्या यह गंगा नदी है ? या उससे निकली नहर है ? फिर प्रश्न हुआ—क्या कोई भगीरथ पैदा हुआ है ? अथवा न जाने आज कितने भगीरथ हैं ।

यह नहर उत्ताल तरंगों से ऊपर से गिरते पानी के साथ जूझ रही है, मानो फेनिल वस्त्र पहनकर कोई विचित्र नर्तकी नृत्य कर रही हो ।

नहर का प्रकंपित शरीर और उसका अतुल निनाद बता रहा है कि इस युग में जो बोलता है, वही प्रमुख है । नहर के पानी ने भी यह रहस्य समझ लिया है ।

पीछे से आता पानी अपने वेग से पहले के पानी को ऊपर की ओर ढकेल देता है । ऊपर गया हुआ पानी फिर नीचे आ जाता है । सच है जिसका स्वभावही निम्न है उसे कौन उठा सकता है ?

ऊपर से गिरती धारा के जलकण आगे बढ़ने को ललचा रहे हैं । देखने वालों को ऐसा लगता है मानो प्रकृति को रोमांच हो गया है । जबकि हवा में उछल रहे जलकण पथिकों से सहयोग लेने को आकुल हो रहे हैं ?

—युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ (कवि मुनि नथमल) के द्वारा पहली बार गंगनहर को देखकर रचे गए पांच श्लोक ।

तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास

□ मुनि गुलाबचन्द्र “निर्मोही”

संस्कृत और संस्कृति इन दोनों का अनवच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। भारतीय संस्कृति, इतिहास और परम्परा का गरिमापूर्ण दर्शन जितना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है, उतना अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। भारतीय संस्कृति का प्रसार जितना संस्कृत के द्वारा हुआ है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं हुआ।

संस्कृत साहित्य के महत्त्व का एक प्रमुख कारण उसकी प्राचीनता है। इतना प्राचीन साहित्य अन्य किसी भाषा में उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्र देश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है। किन्तु उसकी प्राचीनता भी विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व की है। भारतीय साहित्य में संस्कृत की अपेक्षा से ऋग्वेद की रचना सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है। कुछ विद्वान् ऋग्वेद की रचना को कम प्राचीन मानते हैं। इस मत के लिए सब सहमत न भी हों किन्तु लोकमान्य तिलक ने गणित के प्रमाणों द्वारा ऋग्वेद की काल-गणना के सम्बन्ध में जो मत स्थापित किया है, वह यौक्तिक लगता है। उन्होंने सिद्ध किया है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छह हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य के सर्व प्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पूर्व हुआ था। अन्य किसी भी भाषा का उपलब्ध साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। संस्कृत साहित्य की जो धारा उस समय प्रवाहित हुई, वह आज तक अनवच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि वह अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है और उसका प्रवाह कुछ दिनों तक चालू रहता है किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों के उत्पन्न होते ही उसका प्रवाह मन्द हो जाता है। संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीखता। वेदों की मंत्र संहिताओं की रचना के अन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। तदनन्तर उपनिषदों और उसके पश्चात् रामायण, महा-भारत तथा पुराणों का युग आता है। उनके बाद काव्य, नाटक, व्याकरण, गद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति, तन्त्र आदि के निर्माण का समय आता है जो मध्य युग के पहले साहित्य-प्रेमी भारतीय नरेशों के सान्निध्य में बहुत पनपा।

संस्कृत साहित्य सर्वांगीण है। साधारणतया लोगों की धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्म-ग्रन्थों की ही बहुलता है किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत तत्त्वों का भी पर्याप्त विश्लेषण किया है। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशु-पक्षी सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ

संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। श्रेय और प्रेय—इन दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों की उपलब्धि संस्कृत साहित्य में है। अन्य भाषा के साहित्य की ऐसी स्थिति नहीं है। पश्चिमी विद्वानों का मत है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लेटिन साहित्य के समग्र ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में पड़ा है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है, उसकी तो गणना ही अलग है।

जैन परम्परा में भी संस्कृत साहित्य का प्राचुर्य है। जैन आगमों तथा तत्सम ग्रन्थों की भाषा मूलतः प्राकृत, अर्द्धमागधी अथवा शौरसेनी रही है। आगमोत्तर साहित्य की अधिकांश प्राचीन रचनाएं भी प्राकृत में हुई हैं किन्तु जनश्रुति को देखते हुए जैनाचार्यों ने संस्कृत को भी प्राकृत के समकक्ष प्रतिष्ठा प्रदान की। जिस समय वैदिक साहित्य और संस्कृति का व्यापक प्रभाव समाज में बढ़ने लगा तथा शास्त्रार्थ और वाद-विवाद के अनेक उपक्रम होने लगे, तब जैन आचार्यों ने भी संस्कृत को अधिक महत्त्व देना प्रारंभ किया। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और हरिभद्र के ग्रन्थ इसके परिणाम कहे जा सकते हैं। यह समय ईसा की दूसरी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक का है। आठवीं शताब्दी के पश्चात् जैन संस्कृत साहित्य की रचना के मूल में यहां की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति ने अधिक काम किया है। जैन आचार्यों को संस्कृत साहित्य के निर्माण में जिन कारणों से प्रेरणा प्राप्त हुई, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. जैन धर्म के मौलिक तत्त्वों का प्रसार

२. आप्त पुरुषों तथा धार्मिक महापुरुषों की गरिमा का बखान

३. प्रभावी राजा, मंत्री या अनुयायियों का अनुरोध।

उक्त कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि अनेक जैन आचार्य मूलतः ब्राह्मण थे। अतः बचपन से ही संस्कृत उन्हें विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी। उस विरासत से अपनी प्रतिभा को और अधिक विकसित करने के लिए साहित्य सृजन का माध्यम उन्होंने संस्कृत को चुना। जैन संस्कृत साहित्य का प्रवाह ईसा की दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और चौदहवीं शताब्दी तक निरन्तर चलता रहा। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के संस्कृत ग्रन्थों में रचना स्थल का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में संस्कृत में प्रचुर साहित्य लिखा गया। उन्नीसवीं शताब्दी में जैन विद्वानों द्वारा लिखित संस्कृत साहित्य बहुत कम प्राप्त है। बीसवीं शताब्दी में जैन संस्कृत साहित्य का पुनः उत्कर्ष हुआ। इस उत्कर्ष के मूल श्रेयोभाक् तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य तथा विद्वान् मुनि हैं। तेरापंथ धर्म संघ के उद्भव का इतिहास दो सौ से कुछ अधिक वर्षों का है। किन्तु संस्कृत भाषा का बीजारोपण वि०सं० १८८१ में हुआ। विगत पांच दशकों में वह निरन्तर पुष्पित और फलित होता रहा है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने संस्कृत का बीजारोपण किया। पांचवें, छठे और सातवें आचार्य क्रमशः मधवागणी, माणकगणी और डालगणी ने उसकी सुरक्षा की। आठवें आचार्य श्री कालूगणी ने इसे और अधिक सिंचन दिया जिससे उनके जीवन के उत्तरार्द्ध

में उसके मीठे फल भी उन्हें प्राप्त हुए। तेरापंथ के वर्तमान नौवें आचार्य श्री तुलसी के समय में तो वह वृक्ष शाखा-प्रशाखाओं से और अधिक सघन हो गया। इससे उसकी शीतल छाया और स्वादिष्ट फलों का लाभ केवल तेरापंथ को ही नहीं अपितु समग्र संस्कृत वाङ्मय को प्राप्त हुआ। बीसवीं शताब्दी के जैन संस्कृत साहित्य में से यदि तेरापंथ का संस्कृत साहित्य अलग कर दिया जाए तो एक बहुत बड़ी रिक्तता की अनुभूति होगी। तेरापंथ का संस्कृत साहित्य मुख्यतः नौ भागों में विभक्त किया जा सकता है—

- | | |
|---------------------------|--------------------|
| १. व्याकरण | ६. प्रकीर्णक काव्य |
| २. दर्शन और न्याय | ७. संगीत काव्य |
| ३. योग | ८. स्तोत्र काव्य |
| ४. महाकाव्य | ९. नीति काव्य |
| ५. खण्ड काव्य (गद्य-पद्य) | |

व्याकरण

व्याकरणों की रचना यद्यपि बहुत प्राचीन काल से ही होती रही है किन्तु व्याकरण शास्त्र की वैज्ञानिक एवं नियमबद्ध रीति से सर्वप्रथम महर्षि पाणिनि ने रचना की। यह ई. पू. ५०० से ४०० वर्ष के बीच का काल है। पाणिनि ने अपने से पूर्व वैयाकरणों का उल्लेख किया है किन्तु उनका प्रयत्न व्यवस्थित और शृङ्खलाबद्ध नहीं था। पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी जैसे सूत्रबद्ध ग्रन्थ में जिस नियमतन्त्र की स्थापना की उससे एक ऐसी शाब्दीय सीमा का निर्माण हुआ कि उन नियमों द्वारा सिद्ध प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य प्रयोगों को अपभ्रष्ट घोषित कर दिया गया। पाणिनि के पश्चात् अनेक वैयाकरण हुए जिन्होंने स्पष्टता, सरलता, लघुता आदि उद्देश्यों से व्याकरण शास्त्र का विस्तार किया।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जब ब्राह्मणों द्वारा ज्ञान के कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में अपना एकाधिकृत प्रभुत्व स्थापित करना प्रारंभ कर दिया गया, तब जैन आचार्यों और विद्वानों को भी तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हुई। यही कारण है कि आज जैनाचार्यों के व्याकरण विषयक स्वतन्त्र तथा टीका ग्रन्थ शताधिक संख्या में उपलब्ध हैं। जैनों में सर्वप्रथम आचार्य देवनन्दी—जिन्हें जिनेन्द्र बुद्धि या पूज्यपाद के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है—ने 'जैनेन्द्र व्याकरण' की रचना की। यह विक्रम की छठी शताब्दी का समय माना जाता है। उसके पश्चात् विक्रम की नौवीं शताब्दी में आचार्य पत्यकीर्ति ने 'शाकटायन व्याकरण' की रचना की। तदनन्तर विक्रम की बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। इनके अतिरिक्त उस काल के जितने भी व्याकरण विषयक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वे प्रायः इनकी टीका, वृत्ति, न्यास आदि हैं। व्याकरण रचना का यह क्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। तेरापंथ धर्म संघ के विद्वान् मुनिश्री चौथमल ने विक्रम की बीसवीं शताब्दी में 'भिक्षु शब्दानुशासन' नामक महाव्याकरण की रचना करके व्याकरण रचना के क्रम को वर्तमान काल तक पहुँचा दिया।

‘भिक्षु शब्दानुशासन’ की रचना राजस्थान के थली प्रदेश में वि० सं० १९८० से १९८८ के बीच हुई। तेरापंथ के आठवें आचार्य श्री कालूगणी का व्याकरण विषयक अध्ययन बहुत विशद था। मुनिश्री चौथमल का अध्ययन अधिकांशतः कालूगणी के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। उन्होंने आगम, साहित्य, न्याय, दर्शन, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयों का गहन अध्ययन किया। व्याकरण उनका सर्वप्रिय विषय था। उन्होंने पाणिनीय, जैनेन्द्र, शाकटायन, हेमशब्दानुशासन, सारस्वत, सिद्धान्त चन्द्रिका, मुग्धबोध, सारकोमुदी आदि अनेक व्याकरण ग्रन्थों का गंभीर मनन किया। आचार्य श्री कालूगणी की भावना थी कि एक समयोपयोगी, सरल और सुबोध संस्कृत व्याकरण तैयार हो ताकि संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए सुविधा हो सके। क्योंकि उस समय उपलब्ध व्याकरणों में सारस्वत चन्द्रिका बहुत अधिक संक्षिप्त थी। सिद्धान्तकोमुदी-वार्तिक फक्किका आदि की अधिकता के कारण जटिल थी। हेमशब्दानुशासन की रचना पद्धति कठिन थी। इस प्रकार एक भी ऐसा व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था, जिसे सहज और सुगम माना जा सके। मुनिश्री चौथमल ने आचार्य श्री कालूगणी की भावना को साकार रूप दिया और आठ वर्षों के अनवरत परिश्रम से तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के नाम से क्लिष्टता, विस्तार, दुरान्वय आदि से रहित एक सर्वांग सुन्दर व्याकरण तैयार किया। इसमें उणादिपाठ, धातुपाठ, न्यायदर्पण, लिगानुशासन आदि का भी सुन्दर समावेश है। इस महान् कार्य में सोनामई (अलीगढ़) निवासी आशुकि-रत्न पं० रघुनन्दन शर्मा आयुर्वेदाचार्य का भी मूल्यवान सहयोग रहा। इसका सम्पादन मुनि राजेन्द्र कुमार ने किया है।

भिक्षु शब्दानुशासन के विस्तृत होने के कारण प्रारंभिक छात्र उससे अधिक लाभ नहीं उठा सकते, यह सोचकर एक वर्ष के अर्हनिश परिश्रम से मुनिश्री चौथमल ने आचार्य श्री कालूगणी के नाम पर कालूकौमुदी नामक संक्षिप्त प्रक्रिया तैयार की। कालू-कौमुदी एक संक्षिप्त किन्तु परिपूर्ण व्याकरण है। केवल कालूकौमुदी के अध्ययन से ही संस्कृत व्याकरण का सामान्यतः पूरा बोध हो सकता है। तेरापंथ धर्म संघ में इसके रचना काल से ही इसका अध्ययन-अध्यापन चल रहा है। इसके अध्ययन के अनन्तर भिक्षु शब्दानुशासन का अध्ययन चलता है।

भिक्षु शब्दानुशासन के सूत्रों का क्रम सारस्वत व सिद्धान्त चन्द्रिका के समान ही बहुत सरल रखा गया है। इसके आठों अध्याय व्याकरण शास्त्र की समग्रता को प्रकट करने वाले हैं। मुनिश्री चौथमल ने अष्टाध्यायी क्रम से भिक्षु शब्दानुशासन की रचना की। पं० रघुनन्दन शर्मा आयुर्वेदाचार्य इसकी बृहद्वृत्ति के निर्माण में योगभूत बने। बृहद् वृत्ति के साथ भिक्षु शब्दानुशासन की लघुवृत्ति की आवश्यकता भी महसूस होने लगी। आचार्यश्री तुलसी ने अपने मुनि जीवन में इसके निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया था किन्तु अकस्मात् आचार्य पद का दायित्व आ जाने के कारण उसकी सम्पूर्ति अन्य मुनियों ने की। इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में संस्कृत वाङ्मय को भिक्षु-शब्दानुशासन-महाव्याकरण, भिक्षु शब्दानुशासन बृहद्वृत्ति, भिक्षु शब्दानुशासन लघुवृत्ति और कालुकौमुदी नामक ग्रन्थ तेरापंथ धर्म संघ की मूल्यवान देन हैं। मुनिश्री

सोहनलाल (चूरु) ने तुलसी प्रभा के नाम से हेमशब्दानुशासन की संक्षिप्त प्रक्रिया तैयार कर जैन संस्कृत व्याकरणों के क्रम में एक नई शृंखला का सन्धान किया ।

दर्शन और न्याय

जैन तत्त्व दर्शन, जीवविज्ञान, पदार्थ विज्ञान, आचार शास्त्र, मोक्ष मार्ग, प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि विषयों के निरूपण के लिए तीसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति ने सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र की रचना की । इसे “मोक्ष शास्त्र” भी कहा जाता है । यह ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बरों को समान रूप से मान्य है । इस पर सिद्धसेन, हरिभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, उपाध्याय यशोविजय आदि उच्चकोटि के जैन विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं । जैन दर्शन साहित्य का विकास तत्त्वार्थसूत्र को केन्द्री-भूत मानकर ही हुआ है ।

तत्त्वार्थसूत्र की गहनता को प्राप्त करना हर एक के लिए संभव नहीं है । उसमें कुछ ऐसे विषयों का समावेश भी है जो काल-परिवर्तन के साथ स्वयं भी काफी परिवर्तित हो चुके हैं । वर्तमान युग में दर्शन और न्याय के क्षेत्र में भी कुछ नये उन्मेष और विकास हुए हैं । अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि जैन तत्त्वदर्शन और न्यायशास्त्र को आधुनिक परिवेश में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जाए । विद्वत् समाज में इसके प्रति उत्सुकता भी थी । तेरापंथ के नौवें आचार्य श्री तुलसी ने दर्शन विषयक “जैन सिद्धान्त दीपिका”, न्याय विषयक “भिक्षु न्याय कर्णिका” की रचना करके जैन दर्शन और न्याय के अध्येताओं के लिए सरल, सुबोध और मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत की है । तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएं संस्कृत में होने के कारण संस्कृत भाषा के विद्वान् ही उनका लाभ उठा सकते हैं । यद्यपि हिन्दी में भी उसकी व्याख्या लिखी गई है किन्तु संस्कृत की तुलना में वह पर्याप्त नहीं कही जा सकती । जैन सिद्धान्त दीपिका और भिक्षुन्याय-कर्णिका का रचनाक्रम सूत्र और वृत्ति के क्रम से है । दोनों ग्रन्थों की मूल भाषा संस्कृत होने के कारण अन्य अध्येताओं को भी उसका सम्यग् लाभ प्राप्त हो, इस दृष्टि से युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने हिन्दी भाषा में उनकी विस्तृत व्याख्या लिखी । “जैन दर्शन : मनन और मीमांसा” के नाम से यह स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में भी प्रकाशित है । इससे जैन दर्शन के अध्ययनशील विद्यार्थी बहुत लाभान्वित हुए हैं ।

जैन सिद्धान्त दीपिका की रचना वि. सं. २००२ में वैशाख शुक्ला १३ के दिन चूरु (राजस्थान) में सम्पन्न हुई । यह दस प्रकाशों में रचित है । पहले प्रकाश में द्रव्य, गुण और पर्याय का निरूपण है । दूसरे प्रकाश में जीव विज्ञान का निरूपण है । तीसरे प्रकाश में जीव और अजीव के भेदों का निरूपण है । चौथे प्रकाश में बन्ध, पुण्य, पाप और आश्रव के स्वरूप का निरूपण है । पांचवें प्रकाश में संवर, निर्जरा और मोक्ष मार्ग के स्वरूप का निरूपण है । छठे प्रकाश में मोक्ष मार्ग का विश्लेषण है । सातवें प्रकाश में जीवस्थान (गुणस्थान) का निरूपण है । आठवें प्रकाश में देव, गुरु और धर्म का निरूपण है । नौवें प्रकाश में दया, दान और उपकार के स्वरूप का निरूपण है । दसवें प्रकाश में निक्षेप का निरूपण है । इसकी कुल सूत्र संख्या ३०६ है । इसके सम्पादक और हिन्दी भाषा में अनुवादक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं । भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों

ने समान रूप से इसकी उपयोगिता स्वीकार की है। एक फ्रेंच महिला ने 'जैनसिद्धान्त दीपिका' पर पी-एच.डी. भी किया है।

भिक्षु न्याय कर्णिका की रचना वि. सं. २००२ में भाद्र शुक्ला ६ के दिन श्रीङ्गरगढ़ (राजस्थान) में सम्पन्न हुई है। यह सात विभागों में ग्रथित है। पहले विभाग में लक्षण और प्रमाण के स्वरूप का निरूपण है। दूसरे विभाग में प्रत्यक्ष के स्वरूप का निरूपण है। तीसरे विभाग में मति के स्वरूप का निरूपण है। चौथे विभाग में श्रुत के स्वरूप का निरूपण है। पांचवें विभाग में नय के स्वरूप का निरूपण है। छठे विभाग में प्रमेय और प्रमिति के स्वरूप का निरूपण है। सातवें विभाग में प्रमाता के स्वरूप का निरूपण है। इसकी कुल सूत्र संख्या १३७ है। इसके भी संपादक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ और हिन्दी भाषा में अनुवादकर्त्री साध्वी प्रमुखाश्री कनकप्रभा हैं।

इनके अतिरिक्त युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने "न्याय पंचशतिः" की रचना की है। मुनिश्री नथमल (बागौर) ने न्याय और दर्शन के क्षेत्र में "युक्तिवादः" और "अन्यो-पदेशः" नामक दो ग्रंथों का निर्माण किया है, किन्तु ये सब अप्रकाशित हैं।

योग

तत्त्वदर्शन की तरह साधना पद्धति के क्षेत्र में जैन आचार्यों ने काफी गहराई का स्पर्श किया है। प्रत्येक धर्म का अपना स्वतन्त्र साध्य होता है और उसकी सिद्धि के लिए उसी के अनुकूल साधना पद्धति होती है। महर्षि पतंजलि ने सांख्यदर्शन की साधना पद्धति को व्यवस्थित रूप दिया और "योग" नाम से एक स्वतन्त्र साधना पद्धति विकसित हो गई। अब हर साधना पद्धति योग नाम से अभिहित होती है। इसी प्रकार जैन साधना पद्धति को जैन योग और बौद्ध साधना पद्धति को बौद्ध योग कहा जाने लगा। जैन साधना पद्धति की स्वतन्त्र संज्ञा भी है जिसे मोक्ष मार्ग कहा जाता है।

जैन योग पर सम्यग् प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रंथ जैन आचार्यों द्वारा लिखे जा चुके हैं, जिनमें समाधितन्त्र, योग दृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशास्त्र, योग विद्या, अध्यात्मरहस्य, ज्ञानार्णव, योग चिन्तामणि, योग दीपिका आदि प्रमुख हैं। आज के वैज्ञानिक युग में योग का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा रहा है। वैज्ञानिक उपलब्धियों की आधारभूत इकाई भी योग है। अतः यह आवश्यक माना जाने लगा कि वैज्ञानिक प्रगति के समानान्तर योग के रहस्यों का भी नये सन्दर्भों में उद्घाटन हो। भारतीय योग ने पश्चिम को भी प्रभावित किया है। जैन योग के सन्दर्भ में भारत और विदेशों में विभिन्न जिज्ञासाएं उत्पन्न होने लगीं। उनका समाधान बहुत आवश्यक था। आचार्यश्री तुलसी ने योग विषयक "मनोनुशासनम्" ग्रन्थ का प्रणयन कर एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। इसकी उपयोगिता जैन और जैनेतर सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से स्वीकार की है। यह आकार में लघु हो सकता है। पर प्रकार में गुरु है। इसमें योग सम्बन्धी सर्व साधारण द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मताएं नहीं हैं। किन्तु जो है, वह अनुभूतिजन्य और बहुजन साध्य है।

मनोनुशासनम् की रचना वि० सं० २०१८ में धवल समारोह के अवसर पर हुई

थी। इसके सात प्रकरण हैं। इसका रचनाक्रम सूत्र रूप में है। इसके पहले प्रकरण में योग का विस्तृत निरूपण है। दूसरे प्रकरण में मन की अवस्थाओं का निरूपण है। तीसरे प्रकरण में ध्यान, आसन, भावना आदि का प्रतिपादन है। चौथे प्रकरण में ध्यान के प्रकार, धारणा, विषयना, लेश्या आदि का विवेचन है। पांचवें प्रकरण में वायु के प्रकार और उनकी विजय का निरूपण है। छठे प्रकरण में महाव्रत, श्रमणधर्म, संकल्प, जप आदि का निरूपण है। सातवें प्रकरण में जिन कल्प की पांच भावनाओं—प्रतिमाओं का प्रतिपादन है। इसकी कुल सूत्र संख्या १८० है। इसके हिन्दी अनुवादक और व्याख्याता युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं। व्याख्या से जन साधारण के लिए ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है।

मनोनुशासनम् के उपरान्त भी योग प्रक्रिया को विश्लेषण पूर्वक समझाने के लिए एक और ग्रंथ की आवश्यकता अनुभव की गई। उसकी पूर्ति 'सम्बोधि' द्वारा की गई। सम्बोधि शब्द सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य को अपने में समेटे हुए है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान भी अज्ञान बना रहता है और चारित्र्य के अभाव में ज्ञान और दर्शन निष्क्रिय रह जाते हैं। आत्मदर्शन के लिए तीनों का समान और अपरिहार्य महत्त्व है। इस दृष्टि से ही इसका नाम सम्बोधि रखा गया है।

सम्बोधि युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ की श्लोकबद्ध कृति है। इसमें आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञानुधर्मकथा, उपासकदशा, प्रश्न व्याकरण, दशाश्रुत स्कन्ध आदि आगमों का सार संगृहीत है। इसकी शैली गीता के समान है। गीता के तत्त्वदर्शन में ईश्वरार्पण का जो माहात्म्य है, वही माहात्म्य जैन दर्शन में आत्मार्पण का है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही परमात्मा या ईश्वर है। गीता का अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि में कायर होता है तो सम्बोधि का मेघकुमार साधना की समरभूमि में कायर होता है। गीता के संगायक कृष्ण हैं तो सम्बोधि के संगायक महावीर हैं। कृष्ण का वाक् संबल प्राप्त कर अर्जुन का पुरुषार्थ जाग उठता है तो महावीर की वाक् प्रेरणा से मेघकुमार की मूर्च्छित चेतना जागृत हो जाती है। मेघकुमार ने जो प्रकाश पाया, उसी का व्यापक दिग्दर्शन सम्बोधि में है।

सम्बोधि का सम्पादन और विवेचन मुनिश्री शुभकरण और मुनि श्री दुलहराज ने किया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। इसके सोलह अध्याय हैं। उनमें से पहले आठ अध्यायों की रचना वि० सं० २०१२ में महाराष्ट्र में तथा शेष आठ अध्यायों की रचना वि० सं० २०१६ में कलकत्ता में हुई। इसकी कुल श्लोक संख्या ६६६ है।

—क्रमशः

श्री भीखू जसरसायण

सिद्ध साधु प्रणमीसखर, आँणी अधिक उलास ।
सुखदायक आखूं सरस, बारूं भिखुविलास ॥१॥

गुणवंतनां गुण गावतां, उत्कृष्टी रसाण आय ।
पद तीर्थकर पांमीये, कह्यो सुजातामांहि ॥२॥

सासणवीर तणे समण, कह्या अधिक अधिकाय ।
गुण बुद्धितप अरू ज्ञान करि, चउदश सहस सुहाय ॥३॥

सर्वज्ञ जिन मुनि सप्तसय, अबधि तेरसय आण ।
मन पज्जवसयपंचमुनि, चिउंसयवादी पिछाण ॥४॥

पूर्वधर त्रिण सयपवर, वैक्र सप्तसयवाद्य ।
समणी सहंस्र छत्तीससुद्ध, चउदससयनिरूपाधि ॥५॥

सुधर्म जंबू तिल कसिव, अन्यमुनि अमरविमाण ।
हिवडां पंचम काल में, भीखू प्रगट्या भाण ॥६॥

चतुर्थ आराना मुनि, नयणां देख्या नाहि ।
घिन-घिन भीखू चरणधर, प्रत्यक्ष दर्शन पाय ॥७॥

किहां उपना जनन्म्याकिहां पर भवपद किहां पाय ।
किया चौमासाकिण विधै, सांभलजो सुखदाय ॥८॥

चिउंसयसीत्तर वर्ष लगे नंदीवर्धन निहाल ।
तापी छै विक्रम तणौं, सांप्रतसंवत् संभाल ॥९॥

—राज्यभक्त प्रिंटिंग प्रेस, मुंबई में छपी प्रति से

तेरापंथ धर्मसंघ का अवदान— आचार्य भिक्षु का राजस्थानी साहित्य

□ मुनि सुखलाल

आदमी परिस्थितियों से प्रभावित तो होता है, पर वह केवल परिस्थितियों की ही निर्मित नहीं है। उसका अपना भी एक स्वत्व होता है। स्वत्व जितना प्रबल होता है, परिस्थितियां उसे उतना ही कम प्रभावित कर पाती हैं। स्वत्व निर्बल होता है तो परिस्थितियां उस पर हावी हो जाती हैं। साहित्य की भी यही स्थिति है। केवल परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करने वाला साहित्य कालजयी नहीं हो सकता। “कालजयी साहित्य वही होता है जो परिस्थितियों को अपने में पचा कर, स्वत्व बन कर बाहर आता है। एक दीर्घ अंतराल के बाद भी बुद्ध और महावीर, कृष्ण और कबीर यदि भूले नहीं जा सके हैं तो इसका एकमात्र कारण यही है कि उनकी वाणी में—साहित्य में आत्मा की सुगन्ध है। उनके साहित्य में भी परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब हैं, पर वह उनका अपना भोगा हुआ सत्य है। यद्यपि अध्यात्म की दृष्टि से एक क्षण ऐसा आता है जब भाषा ठहर जाती है, पर ऐसे मौन के क्षणों तक पहुंचने के लिए भाषा एक माध्यम बनती है—यह भी एक सचाई है।”

यह भी सही है कि अध्यात्म की दृष्टि से भाषा का बहुत बड़ा मूल नहीं है। उसका मूल केवल अभिव्यक्ति का मूल है। जो भाषा जितनी समर्थ/समृद्ध होती है, वह अनुभूति को भी उतनी ही तीव्रता से अभिव्यक्त/संवादित कर पाती है। इस बात को हम इन शब्दों में भी कह सकते हैं कि अनुभूति जब प्रबल होती है तो वह बाहर आने के लिए भाषा का दरवाजा अपने आप खोज लेती है। यदि कभी दरवाजा नहीं भी मिलता है तो वह दीवारों को तोड़/लांघ कर भी बाहर कूद आती है। इस दृष्टि से राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया जाये तो कहा जा सकता है कि वह एक समृद्ध/समर्थ भाषा है। राजस्थानी को समृद्ध/समर्थ कहने का अर्थ यह होगा कि इसके निर्माण में अनेक अनुभूतिपूर्ण व्यक्तित्वों का योगदान रहा है। इस दृष्टि से देखा जाये तो तेरापंथ धर्मसंघ में ऐसे अनेक प्रखर व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने राजस्थानी भाषा का कुशल अभिसिंचन किया है। बल्कि कहा तो यह भी जा सकता है कि राजस्थानी के विकास में तेरापंथ एक उल्लेख्य मंच रहा है। न केवल परिणाम की दृष्टि से ही अपितु परिणाम/गुणवत्ता की दृष्टि से भी इस धर्मसंघ ने राजस्थानी के पालन/प्ररोहरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह अलग बात है कि अभी तक उसका महत्त्व प्रकाश में आ नहीं सका, या लाया नहीं जा सका, पर आज जबकि पूरे देश और प्रदेश में

राजस्थानी भाषा के प्रति उत्फुल्ल वातावरण का निर्माण हो रहा है तो उस संदर्भ में तेरापंथ धर्मसंघ की सेवाओं के मूल्यांकन का भी उचित अवसर प्रतीत हो रहा है।

संत साहित्य की अपनी एक अन्तर्दृष्टि होती है। पर यायावर होने के कारण उनके साहित्य में विभिन्न क्षेत्रों के भाव और भाषा की एक संयोजना भी होती है। तेरापंथ के संतजन भी निश्चित रूप से पादचारी रहे हैं। यद्यपि उनका विहार-क्षेत्र भारत का बहुत बड़ा भू-भाग रहा है, पर फिर भी यह स्पष्ट है कि उनका प्रमुख विहार क्षेत्र राजस्थान ही रहा है। राजस्थान के हर अंचल में प्रवासित होने के कारण हर क्षेत्रीय आंचलिकता को समाहित कर उन्होंने राजस्थानी भाषा को महत्त्वपूर्ण समरसता प्रदान की है। इस समरसता का एक कारण यह भी रहा है कि तेरापंथ के मुनिजन राजस्थान के हर क्षेत्र से आते हैं। स्वभावतः उनके बोलचाल और व्यवहार में एक ऐसी समन्वित राजस्थानी का प्रारूप तय हो जाता है और वही उनके साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है, इसलिए इस धर्मसंघ की भाषा समग्र राजस्थानी की प्रतिनिधि भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य तुलसी के काल तक के साहित्य का अध्ययन किया जाये तो उसमें मेवाड़ी, मारवाड़ी, हाडोती, थळी आदि प्रदेशों के समन्वय की अनेक कड़ियाँ मिल जायेंगी। इस तरह भाषा की दृष्टि से पूरी राजस्थानी को जोड़ने में इस धर्मसंघ ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक आचार्य भिक्षु न केवल इस संघ के आद्यप्रणेता ही है अपितु आद्य साहित्य-स्रष्टा भी हैं। अपने जमाने के वे एक महान् संत थे। उन्होंने आत्ममुखता और जनाभिमुखता में एक अद्भुत संतुलन बनाया। विरोध ने उनके कर्तृत्व की धार को भोथरा बनाने का प्रयास किया, पर अपने स्वत्व के बल पर उन्होंने उसे ही अपना रक्षा-कवच बना लिया। उनका साहित्य उनके कर्तृत्व की अकथ कहानी है। जैन-परम्परा से जुड़े हुए होने के कारण उनका साहित्य जैन विचार-दर्शन से भीगा हुआ होने पर भी अष्टयात्म से संवलित है। अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को उन्होंने जो रसात्मकता प्रदान की है वह अद्भुत है। सचमुच उनका भाव पक्ष ही ऊर्जस्व नहीं था अपितु शिल्प भी उत्तम कोटि का था। सामने वाले के तर्क को आधार बना कर व्यंग्यात्मक शैली में उत्तर देना उनकी अलभ्य विशेषता थी। मेरे विचार से राजस्थानी साहित्य में व्यंग्यात्मक लेखन में कोई भी आचार्य भिक्षु से ऊपर नहीं जा सकेगा। ऐसे प्रसंगों को साहित्य में उतार कर उन्होंने न केवल अपनी परम्परा को अकूत खजाना सौंपा है अपितु राजस्थानी भाषा को भी अपूर्व क्षमता प्रदान है।

मानव प्रकृति के वे गजब के पारखी थे। अपने लेखन में मनुष्य के मानसिक उतार-चढ़ाव को उन्होंने जिस तरह से अभिव्यक्त किया है उसे उन्हें पढ़कर जाना जा सकेगा। कबीर की तरह की एक संत की फक्कड़ता ने उनके साहित्य को निर्भयता का बहुत बड़ा अवदान दिया है। तात्कालिक धार्मिक-साम्प्रदायिक, सामाजिक व्यवस्था पर उन्होंने न केवल करारे व्यंग्य किए हैं अपितु उनकी परत-परत को उधाड़ कर उस स्थिति का अद्भुत चित्रण किया है। इन सारी बातों पर प्रकाश डालने के लिए एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध

की आवश्यकता है। अपने में निकाले जाने वाले दोषों की सूची बनाकर लिख लेना तथा उसका तर्कपूर्ण शैली में काव्यात्मक प्रतिवाद करने में उन्होंने गजब की माहिरी हासिल की थी।

कुछ लोगों को लगता है कि राजस्थानी भाषा में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का सामर्थ्य नहीं है, वह एक ग्राम्य परिवेश से जुड़ी हुई भाषा है, पर ऐसा मानने वाले लोग यदि एक बार आचार्य भिक्षु का साहित्य पढ़ लें तो उन्हें अपने विचार में परिवर्तन करना ही पड़ेगा।

(क) आचार्य भिक्षु के विषयानुक्रम से पद्य-साहित्य की सूची बनाई जाए तो वह ऐसी होगी—

आचार मीमांसा

१. आचार की चौपई
२. श्रावक ना बारह व्रत
३. एकल री चौपई
४. विनीत-अविनीत री चौपई
५. विनीत-अविनीत री ढालां

सिद्धान्त मीमांसा

१. श्रद्धा री चौपई
२. अनुकम्पा री चौपई
३. विरत-अविरत की चौपई
४. निक्षेपां री चौपई
५. जिनाज्ञा री चौपई
६. मिथ्यात्वी करणी री चौपई
७. समकित री ढालां
८. पोतियां बंध री चौपई
९. टीकम डोसी री चौपई
१०. पर्यायवादी री चौपई
११. इन्द्रियवादी री चौपई
१२. कालवादी री चौपई

तत्त्व मीमांसा

१. नव पदार्थ
२. विविध १. व्यावलो
२. निन्हव रास
३. दसवें प्रायश्चित्त री ढाल
४. मोहनी कर्मबंध री ढाल
५. जिण लखणा चरित नावै न आवै री ढाल
६. सूस भंगावण रा फल री ढाल
७. जुआ री ढाल
८. उरण री ढाल
९. सामधर्मी—सामद्रोही
१०. तात्त्विक ढालां
११. दुगंछणिक कुल निषेधन नी ढाल
१२. गांव गरदोडा गुडला पाणी की ढाल
१३. भगवंत भाख्या रे श्रावक एहवा
१४. दृढ़ समकितधर थोडला उपदेश
१. वैराग री ढालां
२. गणधर सीखामणी ढालां
३. दान री ढालां

आख्यान

१. भरत चरित
३. सुदर्शन चरित
५. द्रौपदी रो बखाण

२. जंबूकुमार
४. चेडा कोणिक री सिध
६. उदाई रा रो बखाण

७. तेतली प्रधान रो बखाण
९. नंदणमणिहार रो बखाण
११. मल्लिनाथ रो बखाण
१३. सकडाल पुत्र रो बखाण
१५. मृगालोढा रो बखाण
१७. सुबाहु कुमार रो बखाण
१९. गोसाला री चौपई

८. धावच्चा पुत्र रो बखाण
१०. पंडरीक-कुंडरीक रो बखाण
१२. जिनरिख-जिनपाल रो बखाण
१४. तामली तापस रो बखाण
१६. उंबरसा रो बखाण
१८. घन्ना अणगर री चौपई
२०. चेलणा रो चौढालियो
२१. सास बहू रो चौढालियो

(ख) आचार्य भिक्षु के गद्यात्मक साहित्य का विषयानुसार वर्गीकृत विवरण इस प्रकार है—

हुंडी

१. ३०६ बोळां री हुंडी
२. १८१ बोळां री हुंडी

चर्चा

१. पांच भाव री चर्चा
२. जोगा री चर्चा
३. खुली चर्चा
४. आस्रव-संवर री चर्चा
५. जिनाज्ञा री चर्चा
६. कालवादी री चर्चा

७. इन्द्रियवादी री चर्चा
८. द्रव्यजीव-भावजीव री चर्चा
९. टीकम डोसी री चर्चा
१०. निक्षेपां री चर्चा
११. भिक्षु पृच्छा

थोकडा

१. तेरा द्वार
२. जीव पदार्थ ऊपर पांच भाव रो थोकडो
३. आत्मा रो थोकडो
४. उदय निष्पन्नादिक ऊपर पांच भाव रो थोकडो

इन सबके अतिरिक्त आचार्य भिक्षु ने अनेक लिखत लिखे हैं। संघ-व्यवस्था तथा मानव-मन को समझने में वे अमूल्य हस्ताक्षर हैं। विविध रूपों में उनकी संख्या ३७ है।

इस तरह ३८ हजार पद्य-परिमाण, उनका साहित्य राजस्थानी की एक अनुपम-निधि है, यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता।

—क्रमशः

तीर्थकरों के नामकरण का हेतु और उनका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

□ मुनि विमल कुमार

इस अवसर्पिणी काल में जैन धर्म में ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकर हुए हैं। उनके नामकरण के पीछे भी कोई न कोई हेतु रहा है। आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्ण और आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति में उसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार तीनों ने नामकरण का इतिहास बताते हुए नाम का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत निबन्ध में तीर्थकरों के नामकरण का इतिहास तथा उनके नाम का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, आवश्यक चूर्ण तथा आवश्यक हारिभद्रीया टीका के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) ऋषभ—भगवान् ऋषभ का दूसरा नाम वृषभ था। ऋषभ और वृषभ दोनों एकार्यक हैं।^१ वृषभ नामकरण के दो हेतु हैं— (१) उनके दोनों उरु पर वृषभ का चिह्न था अतः उनका नाम वृषभ रखा गया। (२) सभी तीर्थकरों की माताएं चौदह महास्वप्न देखती हैं। उन स्वप्नों में वह पहला स्वप्न 'गज' का देखती है। भगवान् ऋषभ की माता मरुदेवा ने पहला स्वप्न 'वृषभ' का देखा था अतः उनका नाम वृषभ रखा गया।^२ जो संयम भार को वहन करता है वह वृषभ है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^३

२. अजित—भगवान् अजित के माता-पिता द्यूत-क्रीड़ा करते थे। उसमें उनके पिता की ही विजय होती थी। जब से भगवान् अजित गर्भ में आए तब से उनकी माता द्यूत-क्रीड़ा में विजित होने लगी। अतः उसने अपने पुत्र का नाम अजित रखा।^४

जो परीषहों और उपसर्गों के द्वारा जीता नहीं जाता वह अजित है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^५

३. संभव—जब भगवान् संभव गर्भ में आये तब अधिक धान्य उत्पन्न हुआ अतः उनका नाम संभव रखा गया।^६ जिसके चौतीस अतिशय उत्पन्न होते हैं वह संभव है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^७

४. अभिनन्दन—भगवान् अभिनन्दन जब गर्भ में आये तब से इन्द्र उन्हें बार-बार वन्दन करने लगा अतः उनका नाम अभिनन्दन रखा गया।^८ जो देवेन्द्र आदि के द्वारा अभिनन्दित होता है वह अभिनन्दन है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^९

५. सुमति—भगवान् सुमति जब गर्भ में आये तब उनकी माता में निर्णायक बुद्धि

खण्ड १७, अंक ४ (जनवरी-माचं, ६२)

२१६

उत्पन्न हुई अतः उनका नाम सुमति रखा गया ।^{१०}

माता में क्या निर्णायक बुद्धि उत्पन्न हुई इस विषय में चूणिकार और टीकाकार ने एक घटना का भी उल्लेख किया है। जिनकी मति अच्छी है वह सुमति है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{११}

६. पद्मप्रभ—भगवान् पद्मप्रभ जब गर्भ में आये तब उनकी माता को कमल की शय्या पर सोने का दोहद हुआ। किसी देव ने कमल की शय्या का निर्माण कर उनका दोहद पूर्ण किया। भगवान् का वर्ण भी पद्म जैसा था अतः उनका नाम पद्मप्रभ रखा गया ।^{१२}

पद्म की तरह जिनकी प्रभा है वह पद्मप्रभ है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{११}

७. सुपाशर्व—भगवान् सुपाशर्व जब गर्भ में आए तब उनकी माता के दोनों पाशर्व (काख के नीचे वाला भाग) सुन्दर हो गए अतः उनका नाम सुपाशर्व रखा गया ।^{१३} जिसके पाशर्व सुन्दर है वह सुपाशर्व है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{१४}

८. चंद्रप्रभ—भगवान् चंद्रप्रभ जब गर्भ में आये तब उनकी माता को चंद्रपान का दोहद हुआ तथा उनका वर्ण भी चंद्रमा जैसा था अतः उनका नाम 'चंद्रप्रभ' रखा गया ।^{१५} जिनकी प्रभा चंद्रमा की तरह है वह चंद्रप्रभ है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{१०}

९. सुविधि—भगवान् सुविधि जब गर्भ में आये तब से उनकी माता सभी कार्यों में कुशलता प्राप्त करने लगी अतः उनका नाम सुविधि रखा गया ।^{१६} जो सब कार्यों में कुशल है वह सुविधि है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{१५}

१०. शीतल—भगवान् शीतल के पिता पित्त-दाह से पीड़ित थे। औषधोपचार से भी वह शान्त नहीं हुआ। जब से भगवान् शीतल माता के गर्भ में आए तब से उनका पित्त-दाह रोग शांत हो गया अतः उनका नाम शीतल रखा गया ।^{१७}

जो सभी प्राणियों के संताप को दूर करने वाला तथा आनंद करने वाला है वह शीतल है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{११}

११. श्रेयांस—भगवान् श्रेयांस के पिता के पास परम्परागत एक देव-परिगृहीत शय्या थी। उसकी पूजा की जाती थी। जो उस पर बैठता देवता उसे कष्ट देता था। जब भगवान् श्रेयांस गर्भ में आए तब उनकी माता को उस शय्या पर बैठने का दोहद हुआ। वह उस पर बैठ गई। तीर्थंकर को गर्भस्थ जानकर देव ने उसे कष्ट नहीं दिया। इस प्रकार गर्भ के प्रभाव से माता की सुरक्षा हुई। अतः उसने अपने पुत्र का नाम श्रेयांस रखा ।^{१८}

जो सब प्राणियों का हित करने वाला है वह श्रेयांस है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ।^{११}

१२. वासुपूज्य—टीकाकार के अनुसार वासुपूज्य नाम रखने के दो कारण हैं—
(१) भगवान् जब गर्भ में आए तब इंद्र बार-बार उनकी माता की पूजा करने लगा अतः उनका नाम 'वासुपूज्य' रखा गया। (२) भगवान् वासुपूज्य के गर्भ में आने पर

वैश्रमण देव रत्नों से राजकुल को भरने लगे। अतः उनका नाम 'वासुपूज्य' रखा गया।^{१३} देवता जिसकी पूजा करते हैं वह वासुपूज्य है—यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{१३}

१३. विमल—भगवान् विमल के गर्भ में आने पर उनकी माता का शरीर तथा—बुद्धि निर्मल हो गई अतः उनका नाम 'विमल' रखा गया।^{१४}

जिसका ज्ञान निर्मल है वह विमल है—यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{१४}

१४. अनंत—भगवान् अनंत जब गर्भ में आए तब उनकी माता ने अति विशाल रत्नजटित माला को स्वप्न में देखा था अतः उनका नाम 'अनंत' रखा गया।^{१५} जिन्होंने अनंत कर्मांशों को जीत लिया है अथवा जिनका ज्ञान आदि अनंत है वह अनंत है यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{१५}

१५. धर्म—भगवान् धर्म जब गर्भ में आए तब उनकी माता विशेष रूप से धर्म-परायण हुई अतः उनका नाम 'धर्म' रखा गया।^{१६}

जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को धारण करता है वह धर्म है—यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{१६}

१६. शान्ति—भगवान् शान्ति जब गर्भ में आए तब उपद्रव शान्त हुए अतः उनका नाम 'शान्ति', रखा गया।^{१७} जो शान्ति करने वाले हैं वे शान्ति हैं—यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{१७}

१७. कुन्धु—सुन्दर और उन्नत विशाल भू-भाग पर रत्नमयस्तूप को स्वप्न में देखकर भगवान् कुन्धु की माता जागृत हुई अतः उनका नाम कुन्धु रखा गया।^{१८} जो पृथ्वी पर स्थित है वह कुन्धु है यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{१८}

१८. अर—भगवान् अर जब गर्भ में आये तब उनकी माता ने स्वप्न में एक सुन्दर और विशाल अर (चक्र) को देखा अतः उनका नाम 'अर' रखा गया।^{१९}

जो सर्वोत्तम और महाशक्तिशाली कुल में उत्पन्न होता है और उसकी वृद्धि करता है उसे 'अर' कहा जाता है।^{१९} अतः उन्हें अर कहा गया है।

१९. मल्लि—भगवान् मल्लि जब गर्भ में आये तब उनकी माता को सब ऋतुओं के सुगंधित फूलों की माला से बनी शय्या पर सोने का दीहद हुआ अतः उनका नाम 'मल्लि' रखा गया।^{२०} जिसने परीषहरूपी मल्ल को जीत लिया है वह मल्लि है यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{२०}

२०. मुनि सुव्रत—भगवान् मुनिसुव्रत जब गर्भ में आये तब उनकी माता सुव्रता (व्रतपरायण) हुई अतः उनका नाम 'सुव्रत', रखा गया। आवश्यकचूर्ण के अनुसार उनके माता-पिता दोनों सुव्रत हुए अतः उनका नाम सुव्रत रखा गया।^{२१}

जो तीनों काल की अवस्थाओं को जानता है वह मुनि है तथा जिनके व्रत अच्छे हैं वह मुनि सुव्रत है—यह व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है।^{२१}

२१. नमि—भगवान् नमि जब गर्भ में आये तब शत्रु राजाओं ने उनके नगर पर आक्रमण कर दिया। गर्भ के प्रभाव से उनकी माता के मन में महल की अट्टालिका (छत) पर जाने की इच्छा हुई। वह वहां गई। उसे देखकर गर्भ के प्रभाव से शत्रु राजा

नत हो गए अतः उनका नाम 'नमि' रखा गया।^{१३} जिसने परीषह और क्रोधादि को झुका दिया है वह नमि है यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^{१४}

२२. अरिष्टनेमि—भगवान् अरिष्टनेमि जब गर्भ में आए तब उनकी माता ने स्वप्न में एक अरिष्टरत्नमय नेमि (चक्र) उछलता हुआ देखा अतः उनका नाम 'अरिष्टनेमि' रखा गया।^{१५} जिसने अप्रशस्त को नमा दिया है वह अरिष्टनेमि है यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^{१६}

२३. पार्श्व—भगवान् पार्श्व जब गर्भ में आए तब स्वप्न में उनकी माता ने गर्भ के प्रभाव से घोर अंधकार में भी एक सात सिर वाले सर्प को शय्या के पास से जाते हुए देखा। उसने शय्या से बाहर निकली हुई राजा की भुजा को शय्या पर लाते हुए कहा—यह सर्प जा रहा है। राजा ने पूछा—तुमने कैसे जाना? उसने कहा—मैं देख रही हूँ। राजा ने दीपक के प्रकाश से देखा तो सर्प ही दिखाई दिया। राजा ने सोचा—इस घोर अंधकार में भी इसने गर्भ के अतिशय प्रभाव से ही सर्प को देखा है अतः उन्होंने अपने पुत्र का नाम पार्श्व रखा।^{१७} जो सभी भावों (पदार्थों) को देखता है वह पार्श्व है—यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^{१८}

२४. वर्धमान—भगवान् वर्धमान जब गर्भ में आये तब से ज्ञातकुल में विशेषरूप से धन की वृद्धि हुई अतः उनका नाम 'वर्धमान' रखा गया।^{१९} जन्म से ही जिनका ज्ञान आदि बढ़ता जाता है वह वर्धमान है यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।^{२०}

संदर्भ

१. आवश्यक वृत्ति (द्वितीय भाग) पृ० ८—उसभोत्ति वा वसहोत्ति वा एगट्ठं ।
२. (क) आवश्यक निर्युक्ति गाथा १०८० तथा उसकी वृत्ति—ऊरुसु उसभलंछणं उसभं सुमिणंमि तेण उसमजिणो । (जेण भगवओ दोसु वि ऊरुसु उसभा उप्पराहुत्ता, जेणं च मरुदेवयाए भगवइए चोद्दसण्हं महासुमिणाणं पढमो उसभो सुमिणे दिट्ठो त्ति, तेण तस्स उसभोत्ति णामं कयं, सेसतित्थगराणं मायरो पढमं गयं तओ वसहं एवं चोद्दस) ।
(ख) आवश्यक चूर्णि (द्वितीय भाग) पत्र ६—ऊरुसु दोसु वि भगवतो उसभा ओपरामुहा तेण निव्वत्तवारसाहस्स नामं कतं उसभो त्ति, किं च-पढमो महासुमिणे दिट्ठो, सेसाणं म । तीहि पढमं गतो ।
३. (क) आ० वृत्ति (द्वितीय भाग) पृ० ८—'वृष' उद्वहने समप्रसंयमभारोद्वहनाद् वृषभः, सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इति ।
(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ६—वृष-उद्वहने, उव्वूढं तेन भगवता जगत्संसारमगं तेन वृषभ इति ।
४. (क) आ० निर्युक्ति गा० १०८० तथा उसकी वृत्ति—

अवसेसु जेण अजिआ जणणी अजिओ जिणो तम्हा । (भगवओ मायापियरो जूअं रमति, पढमो राया जिणियाइओ, जाहे भगवंतो आयाया ताहे ण राया, देवी

जिणइ, तत्तो अक्खेसु कुमारप्राधान्यात् देवी अजिए त्ति अजिओ से णामं कयं) ।

(ख) आवश्यक चूर्ण (द्वितीय) पत्र १०—द्यूतं रमंति पुब्बं राया जिणियाइओ, गब्भे आभूते माता जिणति सदावित्ति तेण अक्खेसु अजित त्ति अजितो जातो ।

५. (क) आवश्यक चूर्ण (द्वितीय) पत्र ९—अजितो त्ति अजितो परीसहोवसग्गेहिं सामण्णं ।

(ख) आवश्यक वृत्ति (द्वि०) पृ० ८—परीषहोपसर्गादिभि नंजितोऽजितः, सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इति ।

६. (क) आवश्यक नि० गा० १०८१ तथा उसकी वृत्ति—

अभिसंभूआ सासत्ति संभवो तेण वुच्चई भयवं ।

(गब्भगए जेण अब्भहिया सस्सणिप्फत्ती तेण संभवो) ।

(ख) आवश्यक चूर्ण (द्वितीय) १०—अब्भधिया सासाणं सह जात त्ति ।

७. (क) आवश्यक चूर्ण (द्वितीय) पत्र १०—संभवे सामण्णं चोत्तीसबुद्धातिसेसा सब्बेसु वि संभवति अतिसया गुणा य ।

(ख) आवश्यक वृत्ति (द्वितीय) पृ० ८—संभवन्ति प्रकर्षेण भवन्ति चतुस्त्रिंशद-
तिशयगुणा अस्मिन्निति संभवः, सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इति ।

८. (क) आ० नि० गा० १०८१ तथा उसकी वृत्ति—

अभिणंदइ अभिक्खणं सक्को अभिणंदणो तेण ।

(गब्भप्पभिइ अभिक्खणं सक्को अभिणंदियाइओ, तेण से अभिणंदणो त्ति णामं कयं) ।

(ख) अभिणंदणे अभिमुहा अभिमुख्ये 'टुनदि समूद्धौ' अहवा सब्बे वि देवेहिं आणं-
दिया, विसेसेणं भगवतो माया गब्भगए ।

९. आ० वृत्ति (द्वि) पृ० ८—अभिनन्दते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनन्दनः, सर्व एव यथोक्त-
स्वरूपा इति ।

१०. (क) आ० नि० गा० १०८२ तथा उसकी वृत्ति—

जणणी सब्बत्थ विणिच्छएसु जाया सुमइ त्ति तेण सुमइ जिणो । (जणणी गब्भगए सब्बत्थ विणिच्छएसु अईव मइसंपण्णा जाया, दोण्हं सवत्तीणं मयपइयाणं ववहारो छिन्तो । ताओ भणियाओ-मम पुत्तो भविस्सइ जो जोव्व-
णत्थो एयस्सऽसो गवरपायवस्स अहे ववहारं तुब्भं छिदिहि । ताव एगाइयाओ भवइ, इयरी भणइ-एवं भवतु, पुत्तमाया णेच्छइ, ववहारे छिज्जउ त्ति भणइ, णारुण तीए दिण्णो, एवमाईगब्भगुणेणं त्ति सुमई ।

(ख) आ० चू० (द्वि) पत्र १०—गब्भगते भट्टारए दोण्हं सवत्तीणं छम्म । सितो ववहारो छिण्णो-एत्थं अमोगवरपादवे एस मम पुत्तो महामती छिदिहि, ताए जाव त्ति भणियाओ, इतरी भणिति-एवं होतु, पुत्तमाता णेच्छति त्ति णातूणं

छिण्णो एतस्स गब्भगतस्स गुणेणंति सुमती जातो ।

११. (क) आवश्यक चूर्णि (द्वितीय) पत्र १०—सर्वेषामेव शोभना मतिरस्स सुमतिः ।
(ख) आ० वृत्ति (द्वितीय) पृ० ८—शोभना मतिरस्येति सुमतिः, सर्वं एव सुमतयो भगवन्त इति ।
१२. (क) आ० नि० गाथा १०८२ तथा उसकी वृत्ति—
पउमसयणंमि जणणीइ डोहलो तेण पउमाभो ॥
(गब्भगए देवीए पउमसयणंमि डोडलो जाओ, तं च से देवयाए सज्जियं, पउम-
वण्णो य भगवं, तेण पउमप्पहो त्ति)
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—सब्बे पउमगब्भसुकुमाला, विसेसओ पउमगब्भगोरो
पउमसयणीयदोहलो त्ति ।
१३. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ९—इह निष्पङ्कीकृत्य पद्मस्येव प्रभा यस्यासो पद्म-
प्रभः, सर्वं एव जिना यथोक्तस्वरूपा इति ।
१४. (क) आ० नि० गाथा १०८३ तथा उसकी वृत्ति—
गब्भगए जणणी जाया सुपासा तओ सुपासजिणो ॥
(गब्भगए जणणीए तित्थगराणुभावेण सोभणा पासा जाय त्ति, ता सुपासो
त्ति) ।
- (ख) आवश्यक चूर्णि (द्वितीय) पत्र १०—सब्बेसि सोभणा पासा तित्थगरमातूणं
च, विसेसो माताए गुट्ठिणीए सोभणा पासा जात त्ति, पढमं विकुक्षिया
आसी ।
१५. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ९—शोभनानि पाश्वर्यास्येति सुपाश्वर्यः, सर्वं एव च
अर्हन्त एवम्भूता इति ।
१६. (क) आ० नि० गाथा १०८३ तथा उसकी वृत्ति—
जणणीए चंदपियणंमि डोहलो तेण चंदाभो ॥
(देवीए चंदपियणंमि डोहलो चंदसरिसवण्णो य भगवं तेण चंदप्पभो त्ति) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—सामण्णं सब्बे चंद इव सोमलेसा, विसेसो चंद-
पियणंमि डोहलो चंदाभो य त्ति ।
१७. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ९—चंद्रस्येव प्रभा-ज्योत्सना सौम्याऽस्येति चंद्रप्रभः,
तत्थ सब्बे वि तित्थगरा चंद इव सोमलेसा ।
१८. (क) आ० नि० गाथा १०८४ तथा उसकी वृत्ति—
सव्वविहीसु अ कुसला गब्भगए तेण होइ सुविहि जिणो ॥
(भगवंते गब्भगए सव्वविहीसु चैव विसेसओ कुसला जणणि त्ति तेण
सुविहि त्ति णामं कयं) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—सामण्णं सब्बे सव्वविधीसु णाणाइयासु कुसला,
विसेसो माताए अतीव कोसल्लं जातं गब्भगते ।

१६. आ० वृ० (द्वि०) पृ० ६—तत्र शोभनो विधिरस्येति सुविधिः, इह च सर्वत्र कौशल्यं विधिरुच्यते, तत्थ सव्वे वि एरिसा ।
२०. (क) आ० नि० गाथा १०८४ तथा उसकी वृत्ति—
पिउणो दाहोवसमो गब्भगए सीयलो तेण ।
(पिउणो पित्तदाहो पुब्बुप्पणो ओसहेहि ण पउणति, गब्भगए भगवंते देवीए परामुट्टस्स पउणो, तेण सीयलो त्ति) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—सामण्णं सीतला अरिस्स मित्तस्स वा, विसेसोवि पुणो दाहो जातो ओसहेहि न पउणति, देवीए परामट्ठे पउणो ।
२१. आवश्यक वृत्ति (द्वि०) पृ० ६—तत्र सकलसत्वसन्तापकरणविरहादाह्लादजनकत्वाच्च शीतल इति, तत्थ सव्वेऽपि अरिस्स मित्तस्स वा उव्वरि सीयघर-समाणा ।
२२. (क) आ० नि० गा० १०८५ तथा उसकी वृत्ति—
महरिहसिज्जारुहणंमि डोहलो तेण होइ सिज्जंसो ॥
(तस्स रन्तो परम्परागया सेज्जा देवतापरिग्गहिता अच्चिज्जइ, जो तं अल्लियइ तस्स देवया उव्वसगं करेति, गब्भत्थे य देवीए डोहलो उव्वविट्ठा य, आरसिउं देवया अवक्कंता, तित्थगरनिमित्तं देवया सेज्जंसोत्ति) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—सामण्णं सव्वे सेया लोके, अहवा तेण निवर्तित-सरीरा, विसेसो तस्स रण्णो परम्परागता सेज्जा, देवताए परिग्गहिता अच्चिज्जंति अच्छति, न कस्स वि ढोकं देति, देवीए गब्भगते दोहलो, तं सेज्जं विलग्गा, देवता रडित्थुण पलाता, तेण सेज्जंसो ।
२३. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ६—समस्तभुवनस्यैव हितकरः, प्राकृतशैल्या छान्द-सत्वाच्च श्रेयांस इत्युच्यते, तत्थ सव्वेवि तेलोगस्स सेया ।
२४. (क) आ० नि० गाथा १०८५ तथा उसकी वृत्ति—
पूएइ वासवो जं अभिक्खणं तेण वासुपुज्जो ।
(वासवो देवराया तस्स गब्भगयस्स अभिक्खणं अभिक्खणं जणणीए पूयं करेइ, तेण वासुपुज्जो त्ति ।
- (ख) आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ६—अहवा वसूणि-रयणाणि वासवो-वेसमणो सो गब्भगए अभिक्खणं अभिक्खणं तं रायकुलं रयणेहि पूरेइ त्ति वा वासुपुज्जो ।
- (ग) आ० चू० (द्वि०) पृ० १०—वसूणि रयणाणि वासवो-वेसमणो सो वा अभि-गच्छति ।
२५. (क) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—वसू-देवा वासवो इंदो तेण सव्वे वि अभिगच्छित्त-पुव्वा ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पृ० ६—वसूनां पूज्यो वसुपूज्यः, वसवो-देवाः, तत्थ सव्वे वि तित्थगरा इंदार्हणं पुज्जो ।

२६. (क) आ० नि० गाथा १०८६ तथा उसकी वृत्ति—
वि मलतणुबुद्धि जणणी गढ्भगए तेण होइ विमलजिणो ॥
(गढ्भगए मासूए सरीरं बुद्धी य अतीवविमला जाया तेण विमलो त्ति) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र १०—सामण्णं सव्वे विमलमती, विसेसो माताए सरीरं
अतीवविमलं जातं बुद्धी तत्ति ।
२७. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—तत्र विगतमलो विमलः, विमलानि वा ज्ञाना-
दीनि यस्य, सामण्णलवखणं सव्वेसि वि विमलाणि णाणदंसणाणि सरीरं च ।
२८. (क) आ० नि० गा० १०८६ तथा उसकी वृत्ति—
रयणविचित्तमणंतं दामं सुमिणे तओऽणंतो ॥
(‘रयणविचित्तं’ रयणखचियं ‘अणंतं’ अइप्पमाणं दामं सुमिणे जणणीए दिट्ठं
तओ अणंतो त्ति) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णं सव्वेहिं कम्मं जित्तं, विसेसो माताए
सुविणए अणंतं महंतं रतणचित्तं दामं दिट्ठं अंतो से नत्थि तेण अणंतई ।
२९. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—तत्रानन्तकर्मान्शजयादनन्तः अनन्तानि वा
ज्ञानादीन्यस्येति, तत्थ सव्वेहिं पि अणंता कम्मंसा जिया सव्वेसि च अणंताणि
णाणाईणि ।
३०. (क) आ० नि० गाथा १०८७ तथा उसकी वृत्ति—
गढ्भगए जं जणणी जाय सुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो ॥
(गढ्भगए भगवते विसेसओ से जणणी दाणदयाइएहिं अहिगारेहिं जाया
सुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो भगवं) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सर्वेऽपि शोभनधर्माः सुधर्मा च, विसेसो आम्म-
पितरो सावगधम्मे भुज्जो चुक्के खलंति, उववण्णे दढव्वताणि ।
३१. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—तत्र दुर्गती प्रपतन्तं सत्वसङ्घातं धारयतीति
धर्मः, तत्थ सव्वे वि एवंविह त्ति ।
३२. (क) आ० नि० गाथा १०८७ तथा उसकी वृत्ति—
जाओ असिवोवसमो गढ्भगए तेण संतिजिणो ज ।
(महंतं असिवं आसि, भगवते गढ्भमागए उवसंतं ति) ।
- (ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णं सव्वे वि संतिकरा जिणा, विसेसो जाते
असिवं पसंतं ।
३३. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—तत्र शान्तियोगोत्तदात्मकत्वात्तत्कतृत्वाद् वा
शान्तिरिति ।
३४. (क) आ० नि० गा० १०८८ तथा उसकी वृत्ति—
थूहं रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणंमि तेण कुंथुजिणो ॥
(मणहरे अब्भुण्णए महप्पएसे थूहं रयणविचित्तं सुमिणे दट्ठुं पडिबुद्धा तेण से
कुंथुत्ति णामं कयं) ।

(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णं कु त्ति भूमि ताए वसुहाए सव्वे भूमि-
द्विता आसी, विसेसो माताए थूभो सव्वरतणामतो सुविणे दिट्ठो भूमित्थो तेण
कुंथू ।

३५. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—इदानीं कुंथू-तत्र कुः—पृथ्वीं तस्यां स्थित-
वानिति कुस्थः, सामण्णं सव्वेवि एवंविहा ।

३६. (क) आ० नि० गाथा १०८८ तथा उसकी वृत्ति—
सुमिणे अरं महरिहं पासइ जणणी अरो तम्हा ।
(गब्भगए मायाए सुमिणे सव्वरयणामओ अइसुंदरो अइप्पमाणो य अरओ दिट्ठो
तम्हा अरोत्ति से णामं कयंति) ।

(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—अरणामर्थः—सव्वे धणकणगसमिद्धेसु जाया
कुलेसु, विसेसो सुविणे सव्वरतणामओ अरओ दिट्ठो ।

३७. आ० वृ० (द्वि०) पृ० १०—इदानीं अरो—
तत्र सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले य उपजायते ।
तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः ॥
तत्थ सव्वेऽपि सव्वत्तमे कुले विद्धिकरा एव जायंति ।

३८. (क) आ० नि० गाथा १०८९ तथा उसकी वृत्ति—
वरसुरहिमल्लसयणंमि डोहलो तेण होइ मल्लिजिणो ॥
(गब्भगए माऊए सव्वोउगवरसुरहिकुसुम्मल्लसयिणज्जे दोहलो जाओ, सो य
देवयाए पडिसंमाणिओ दोहलो, तेण से मल्लि त्ति णामं कयं) ।

(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णं सव्वे वि परीसहमल्ला मलिता, विसेसो
मल्लसयणे दोहलो ।

३९. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—इह परीषहादिमल्लजयात्प्राकृतशैल्या छान्द-
सत्वाच्च मल्लिः ।

४०. (क) आ० नि० १०८९ तथा उसकी वृत्ति—
जाया जणणी जं सुव्वयत्ति मुणिसुव्वओ तम्हा ॥
(गब्भगए णं माया अईव सुव्वया जायत्ति तेण मुणिसुव्वओत्ति णामं) ।

(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णं सव्वेसिं सुव्वता, विसेसो गब्भगते माता
पिता य सुव्वता जाता ।

४१. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० १०—मुणिसुव्वयो त्ति—तत्र मन्यते जगतस्त्रिकाला-
वस्थामिति मुनिः, तथा शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्चेत्ति
मुनिसुव्रतः, सव्वे सुमुणियसव्वभावा सुव्वया य त्ति सामण्णं ।

४२. (क) आ० नि० गाथा १०९० तथा उसकी वृत्ति—
पणया पच्चंतनिवा दंसियमित्ते जिणंमि तेण नमी ॥
(उल्ललिएहि पच्चंतपत्थिवेहि णयरे रोहिज्जमाणे अण्णराईहि देवीए कुच्छिए
णमी उववण्णो, ताहे देवीए गब्भस्स पुण्णसत्तीचोईयाए अट्टालमारोढुं सद्धा

समुपपण्णा, आरूढा य दिट्ठा परत्थिवेहिं, गब्भप्पभावेण य पणया सामंतपत्थिवा, तेण से णमिस्सि णामं कयं ।

(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णे सब्बेहिं परीसहा नामिता कोहादयो य, विसेसो णागरं रोहिज्जति, देवो अट्टे संठिता दिट्ठा, पच्छा पणता रायाणो, अण्णे य पच्चंतिया रायाणो पणतो तेण नमी ।

४३. आ० वृत्ति (द्वि) पृ० ११—णमिस्सि तत्र प्राकृतशैल्या छान्तसत्वाल्लक्षणान्तरसम्भवाच्च परीपहोपसर्गादिनमन । न्निमिरिति ।... तत्थ सब्बेहिं वि परीपहोवसग्गा णामिया कसाय त्ति सामण्णं ।

४४. (क) आ० नि० गाथा १०६० तथा उसकी वृत्ति—

रिट्ठरयणं च नेमि उप्पयमाणं तओ नेमी ॥

(गब्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामओ महइमहालओ णेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति, तेण से रिट्ठणेमि त्ति णामं कयं) ।

४५. (क) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—अप्रशस्तं तदनेन नामितं तेण सामान्यं, विसेसो रिट्ठरयणामइ नेमि उप्पयमाणी सुविणे पेच्छति ।

४६. (क) आ० नि० गाथा १०६१ तथा उसकी वृत्ति—

सप्पं सयणे जणणी तं पासइ तमसि तेण पासजिणो ॥

(गब्भगए भगवंते तेलोक्कबंधवे सत्तिसिरं णागं सयणिज्जे णिविज्जणे माया से सुविणे दिट्ठत्ति, तहा अंधकारे सयणिज्जगयाए गब्भप्पभावेण य एतं सप्पं पासिऊणं रण्णो सयणिज्जे णिग्गया बाहा चडाविया भणिओ य—एस सप्पो वच्चइ, रण्णा भणियं-कहं जाणसि ? भणइ—पेच्छामि, दीवएण पलोइओ, दिट्ठो य सप्पो, रण्णा चिंता गब्भस्स एसो अइसयप्पहावो जेण एरिसे तिमिरांधयारं पासइ, तेण पासोत्ति णामं कयं ।

(ख) आ० चू० (द्वि०) पत्र ११—सामण्णं सब्बे जाणका पासका य सब्बभावाणं, विसेसो माता अंधारे सप्पं पासति, रायाणं भणति-हत्थं विलएह सप्पो जाति, किह एस दीसति ? दीवएणं पलोइओ, दिट्ठो ।

४७. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ११—तत्र पूर्वोक्तयुक्तिकलापादेव पश्यति सर्वभावानिति पार्श्वः, पश्यक इति चान्ये । तत्थ सब्बे वि सब्बभावाणं जाणगा पासगा य त्ति सामण्णं ।

४८. (क) आ० नि० गाथा १०६१ तथा उसकी वृत्ति—

वड्ढइ नायकुलं ति अ तेण जिणो वड्ढमाणु त्ति ॥

(गब्भगएण भगवया णायकुलं विसेसेण धण्णेण वड्ढियाइयं तेण से णामं कयं वड्ढमाणे त्ति) ।

(ख) आ० चू० द्वि०—पत्र ११—सामण्णं सब्बे वि णाणादीहिं गुणेहिं वड्ढंती, विसेसा नातकुलं धणरतणेण संवड्ढति ।

४९. आ० वृत्ति (द्वि०) पृ० ११—तत्रोत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्बद्धंत इति बद्धमानः ।

—०—

□

पुरतक-समीक्षा

१. पुरुषार्थ की गाथा—प्रथम संस्करण, सन् १९६१, सम्पादक—मुनि सुखलाल ।
मूल्य ८० रुपये । पृष्ठ ४६७ । प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा,
३ पोर्चगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००१ शिविर कार्यालय :—लाडनू ।

भारत के आर्थिक इतिहास में राजस्थान के मारवाड़ी व्यापारियों की भूमिका को लेकर पिछले काफी समय से शोध-कार्य प्रगति पर है । मैं स्वयं भी इस विषय का एक अध्येता रहा हूँ । अपने अध्ययन-काल में मेरा यह अनुभव रहा है कि इस विषय पर राजकीय क्षेत्र की इतनी शोध-सामग्री उपलब्ध नहीं है जितनी अन्य आर्थिक विषयों पर उपलब्ध है । किन्तु निजी क्षेत्र में विशेष रूप से यहां के प्राचीन एवं प्रसिद्ध मारवाड़ी व्यापारी घरानों में आज भी उनकी व्यापार पद्धति में प्रयुक्त होने वाली पुरानी बहियां, परवाने, खास रुक्के, इकरारनामे व हिसाब-किताब में प्रयुक्त होने वाले अन्य खुले पत्र आदि बहुतायत से उपलब्ध होते हैं । निजी क्षेत्र की उक्त सामग्री का शोध में विशेष महत्त्व है । इसके अतिरिक्त भी इन व्यापारी घरानों के लोगों से सम्बन्धित अभिनन्दन-ग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ भी प्रभूत मात्रा में प्राप्य हैं । किन्तु आज का शोध अध्येता उक्त ग्रन्थों को शोध-सन्दर्भ के रूप में स्वीकार करने में हिचकिचाता है । इसके पीछे यह तर्क दिया जाता है कि अभिनन्दन और स्मृति-ग्रन्थों आदि के लेखक गण प्रायः भावुक होकर लेखन करते हैं जिससे इनमें अनेक बातें तथ्यों से परे भी लिख दी जाती हैं । इस बात में कुछ हद तक सचाई भी है ।

किन्तु “पुरुषार्थ की गाथा” जो श्री छोगमलजी चौपड़ा का एक प्रकार के स्मृति-ग्रन्थ ही है, उपर्युक्त परम्पराओं से हटकर लिखा हुआ है । मुनि श्री सुखलाल ने इस ग्रन्थ को पांच खण्डों में बांट कर इसका सम्पादन इस तरह से किया है कि मारवाड़ियों पर शोध करने वाला अध्येता इसको सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर इसका उपयोग कर सकता है । इसके पहले दो खण्ड आत्मगाथा और आत्मगाथा (दैनंदिनी) शोध की दृष्टि से काफी उपयोगी हैं । पहले खण्ड में स्वयं श्री छोगमलजी चौपड़ा ने अपनी आत्म-कथा लिखी है । इसमें उनके परिवार का पूर्ण इतिहास तो है ही, साथ ही १९वीं सदी के अन्तिम दशकों में राजस्थान की विभिन्न रियासतों से जो मारवाड़ी जीवनयापन के लिए निष्क्रमण कर बंगाल आदि दूरस्थ प्रदेशों में व्यापार-कार्य में संलग्न हो गये थे, उनकी व्यापारिक पद्धति के भी दर्शन होते हैं । राजस्थान से बंगाल का निष्क्रमण-मार्ग, निष्क्रमण किये हुए मारवाड़ियों की व्यापारिक गतिविधियां, आवास व भोजन व्यवस्था, स्कूल व कालेज स्तर की मारवाड़ियों की शिक्षा-व्यवस्था, सामाजिक उत्सवों पर अपने

मूल राज्य की वापसी यात्राएं आदि ऐसी प्रत्यक्षदर्शी जानकारीयां हैं जिनसे अध्येता वर्ग लाभ उठा सकता है। इसी भांति श्री छोगमलजी, जो एक बड़े वकील थे, ने आचार्यश्री के सुझाव पर सन् १९४८ में दैनंदिनी लिखना प्रारंभ कर दी थी। उसी दैनंदिनी को दिनांक सन् २४ मई, १९४८ से लेकर २२ अप्रैल, १९५२ तक दूसरे खण्ड में छपा गया है। यह दैनंदिनी जिस समय लिखनी प्रारंभ की गई थी, वह भारतीय इतिहास में एक संक्रमण काल था। भारत अंग्रेजी शासन से मुक्त हो चुका था तथा राजस्थान की विभिन्न रियासतों को सरदारपटेल राजस्थान में विलीनीकरण करने में व्यस्त थे। दैनंदिनी के अध्ययन से जानकारी मिलती है कि श्री चौपड़ा आचार्यश्री के सम्पर्क में आने के बाद अपना अधिकतर समय जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय की गतिविधियों में व्यतीत करने लगे थे। किन्तु जब कभी समय मिलता वे देश व अपने मूल राज्य बीकानेर की कांग्रेस पार्टी के लिए भी काम करने का समय निकाल लेते थे। शिक्षा प्रचार भी उनका कार्यक्षेत्र बन गया था। देश-विदेश के विद्वान् एवं राजनैतिक नेताओं से आपका सम्पर्क भी बना हुआ था। इसके अतिरिक्त दैनंदिनी से अन्य विविध प्रकार के विषयों पर भी प्रकाश पड़ता है। यह दैनंदिनी संपूर्णतः प्रकाशित नहीं हुई है। अच्छा हो इसे भविष्य में पूर्ण रूप से छाप दिया जाये।

तीसरे खण्ड जीवन गाथा में, जिसके कुल ५४ पृष्ठ हैं, श्री छोगमल चौपड़ा के परिजनों एवं उनके विशेष सम्पर्क में आये विशिष्ट लोगों द्वारा उनके जीवन के विभिन्न पक्षों को लेकर लिखे गये लेख विविध सूचनाओं को समेटे हुए हैं। चौथे खण्ड स्मृति गाथा में, जिसमें कुल ५६ पृष्ठ हैं, विभिन्न स्तर के विद्वानों, अधिकारियों और समाज-सेवकों ने अपने-अपने संस्मरणों में श्री छोगमलजी के सम्बन्ध में विविध घटनाओं पर विस्तार से जानकारी प्रस्तुत की है। पांचवें खण्ड में गौरव गाथा के कुल सात ही पृष्ठ हैं। लेकिन श्री चौपड़ा की समाज के प्रति जो भी देन रही, उसके उपलक्ष्य में समाज ने समय-समय पर उन्हें जो सम्मान दिया तथा जीवन के अन्तिम सोपान पर उन्हें जो भावभीनी श्रद्धांजलि दी, उसकी अच्छी भली झलक इस खण्ड में मिलती है। अन्तिम परिशिष्ट वाले नौ पृष्ठों के खण्ड में श्री छोगमलजी ने अपने जीवन काल में समय-समय पर विभिन्न विषयों पर जो पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे वे तथा ग्रन्थ में आये नामों की अनुक्रमणिका है वह सूचनापरक है।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ने निश्चय ही इस ग्रन्थ का सुन्दर प्रकाशन करवाया है, जिसके लिए वह भी साधुवाद की पात्र है।

—डा० गिरिजा शंकर शर्मा

२. आगे की सुधि लेइ—आचार्य श्री तुलसी के प्रवचनों का संग्रह—प्रवचन पाथेय ग्रन्थ माला—१३, पहला संस्करण—१९९२, संपादक—मुनि धर्मरुचि, पृष्ठ—२९८ + ६०, मूल्य—तीस रुपये, प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू।

पिछले कुछ समय से आचार्यश्री के द्वारा दिये गये प्रवचनों का प्रकाशन हो रहा है। लघुता से प्रभुता मिले, जब जाये तभी सवेरा, मुखड़ा क्या देखे दरपन में, दिया

जले आगम का और मन हंसा मोती जुगे जैसे स्वतंत्र प्रकाशनों के साथ आचार्यश्री के प्रवचनों का 'प्रवचन पाथेय ग्रन्थमाला' रूप में भी प्रकाशन किया जा रहा है जिसका १२वां प्रकाशन विगत माह ही छपा है। तेरहवां प्रकाशन—'आगे की सुधि लेई' नाम से इसी माह फरवरी ६२ में प्रकाशित हुआ है। इसमें आचार्यश्री द्वारा अपनी श्रीगंगानगर क्षेत्र की यात्रा में दिये गए सन् १९६६ के लगभग तीन महिनों के प्रवचनों का संकलन है।

संपादन की दृष्टि से इस प्रकाशन में अभिवांछित परिष्कार हुआ है। अनुक्रमपूर्वक शीर्षक देकर प्रवचनों को मुद्रित किया गया है और अन्त में पारिभाषिक शब्दों के अर्थ देकर सांकेतिका नाम से अकरादिक्रम से इन्डेक्स (नामानुक्रम) भी दे दिया गया है। आचार्यश्री के प्रवचनों से संग्रह करके कतिपय प्रेरक वचन भी पृष्ठ संख्या के साथ एक परिशिष्ट रूप में पुनः मुद्रित किए गए हैं। इसके अलावा प्रवचनों में शीर्षक अनुरूप विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रघट्टकों के लघु शीर्षक भी लगाए गए हैं।

इस प्रकार प्रवचन को अधिकाधिक विस्पष्ट और रोचक बनाने की चेष्टा हुई है। इस संग्रह में कुल ५४ प्रवचनों का संग्रह है। धर्म या धर्म संबंधित आठ प्रवचन हैं किन्तु प्रत्येक प्रवचन की विषय वस्तु अलग है। आचार्यश्री के प्रवचन समस्या समाधान में भी सहायक हैं, इसके लिए वे बहुत से दृष्टान्त और ऐतिहासिक संदर्भ सुनाते हैं जो रोचक होने के साथ-साथ विषयवस्तु को भी निखार देते हैं।

वास्तव में प्रवचनकार जब प्रवचन करता है तो उसके सामने जनता होती है। जनता में विद्वान् और साधारणजन—दोनों प्रकार के व्यक्ति होते हैं। वे उस समय ऐसी बातें सुनना चाहते हैं, जो सुनने के साथ-साथ आत्मसात् हो जाएं। उस समय पांडित्य के प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रहती। जनभाषा, जनजीवन के लिए उपयोगी बातें, जनसमस्याएं एवं उनके समाधान, जनता की अपेक्षाएं और प्राथमिक रूप की तात्त्विक एवं सैद्धांतिक चर्चा—इन बिन्दुओं को ध्यान में रखकर किया जाने वाला प्रवचन ही सहज रूप में जनभोग्य बनता है। आचार्यश्री को यह तथ्य पूर्णतया विदित है, इसलिए उनके प्रवचन हृदयग्राही, रोचक और उपयोगी होते हैं।

'जैन विश्व भारती' इन प्रवचनों को प्रकाशित करके बहुत ही उपयोगी कार्य कर रही है। यथातथ्य संपादन के मुनि धर्मरुचि बधाई के पात्र हैं।

—विश्वनाथ मिश्र

३. दो काव्य कृतियां :

१. गीतों का गुलदस्ता—द्वितीय संस्करण, सन् १९६१, कवि—मुनिश्री सुखलालजी, मूल्य—१० रुपये, पृष्ठ ११४+११, प्रकाशक—के० जैन पब्लिशर्स, ४२६, हिरणमगरी, सेक्टर-११, उदयपुर।

२. उलभे तार—द्वितीय संस्करण, सन् १९६१, कवि—मुनि श्री सुखलालजी, मूल्य—१० रुपये, पृष्ठ—८४+६, प्रकाशक—आदर्श साहित्य संघ, चूरु।

लगभग तेरह वर्ष पहले मुनि श्री सुखलालजी की प्रारंभिक कविताओं के दो संग्रह

क्रमशः 'गीतों का गुलदस्ता' और 'उलझे तार' छपे थे। मुनि मोहजीतकुमार ने गुलदस्ते के गीतों का संग्रह किया और उनकी लय (तर्ज) पहचान कर उन्हें संपादित किया। 'उलझे तार' में प्रकाशित कविताओं का संपादन नहीं हुआ, किन्तु मुनिश्री ने स्वयं स्पष्ट कर दिया कि 'उलझे तार मेरी प्रारंभिक कविताओं का संग्रह है।' उनमें किसी निश्चित जीवन-दर्शन की पृष्ठभूमि नहीं है। यह भी उन्होंने लिख दिया।

गुलदस्ते में ७१ हिन्दी में और ४२ राजस्थानी में लिखे गीतों का संग्रह है। इन गीतों में गेय तत्त्व प्रधान है। विषयवस्तु प्रायः आध्यात्मिक है किन्तु कहीं भी अरुचिकर नहीं लगती। 'पहले निज लक्ष्य बनायें ! दृढ़ता से फिर उस ओर निरन्तर आगे बढ़ते जायें !!' और 'अहंम् अहंम् अहंम् अहंम् उच्च स्वर से बोल रे ! सांसें की चाबी से अपने मन का ताला खोल रे !!' इसी प्रकार राजस्थानी में—'प्रभूजी रा गीत आपां आज गावांला ! भगती रा फूल चरणां चढावांला !!' और 'पायो भैक्षव शासनसार, अपणो भाग्य सरावो रे ! होसी निश्चय बेड़ो पार अपणो भाग्य सरावो रे !!' जैसे गीत समूह गान की तरह गाए जा सकते हैं। स्वयं कवि ने कहा है—जो गीतिकाएं सहज बनती हैं, वे प्रभावशाली भी रहती हैं। जिन्हें बहुत सोच-विचार या जोड़-तोड़ कर बनाया जाता है वे अधिक प्रभावकारी नहीं होती। किन्तु गुलदस्ते की बहुसंख्यक गीतिकाएं प्रभावोत्पादक हैं। यह कवि की अपनी सफलता है।

'उलझे तार' के संबंध में कवि ने एक और बेलाग बात कही है कि 'मैंने किसी अनुभूति को उधार नहीं लिया है। मेरे अपने जीवन में जो प्रतीति हुई है, उसे अकृत्रिम-भाव से मैंने कविता के कपड़े पहनाये हैं।' कवि का यह कथन भी अधिकांश में सार्थक है। 'संभल-संभल कर चलो, घाव पर ठेस नहीं लग जाए'; 'तुमने जब मेरी वीणा पर हाथ रखा है। कोई स्वर उसमें से निश्चित निकलेगा ही !!'—आदि कविताएं कोई नई बात नहीं कहतीं, परन्तु अनुभूति निश्चित रूप से नई हैं।

इसी प्रकार 'मुझे तर्क से भले निरुत्तर कर सकते हो, किन्तु स्वयं अपने को भी क्या छल सकते हो?' अथवा 'आओ, हम आपस में मिलकर सुख भी बांटें, दुःख भी बांटें।'—जैसी कविताएं भला किसे आकृष्ट नहीं करेंगी? हां, हम असहमत हो सकते हैं कि—'विष पीकर भी सुधा-सदृश उद्गार निकालो।' किन्तु जब कवि कहता है—'किसी विषशतावश तुमने विषपान किया है, वह तो अब कर चुके, उसे क्यों याद कर रहे हो?'—तो प्रश्न सोचनीय नहीं रहता।

सब मिलाकर दोनों काव्य कृतियां मनोरंजक और विचारोत्तेजक हैं। मूल्य कम होने से सहज प्राप्य भी हैं। प्रस्तुति और साज-सज्जा आकर्षक है।

छन्दराज जइतसी रउ (बीठू सूजइ रउ कहियउ)—प्रथम संस्करण—सन् १९६१, संपादक—श्री मूलचन्द 'प्राणेश', मूल्य—साठ रुपये, पृष्ठ—१२२+१२, प्रकाशक—भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान, रतनबिहारी पार्क, बीकानेर।

'छन्द राव जैतसी' राजस्थानी भाषा की उत्कृष्ट कृति है। राजस्थानी भाषा वैदिक वाङ्मय की तुरीय भाषा अथवा भरतमुनि द्वारा अभिसंज्ञित वाह्लीका भाषा से उद्भूत परंपरागत समृद्ध भाषा है। इस भाषा के बहुसंख्यक शब्द आधुनिक शब्द कोषों में नहीं

मिलते। राव जैतसी छंद, चारणी साहित्य की छन्द विधा की रचना है और इसमें परम्परागत भाषा का प्रयोग है। इसलिये स्वभावतः यह जटिल और क्लिष्ट है। सहज बोधगम्य नहीं है।

डॉ० एल० पी० तैस्सितोरि जन्मजात भाषाविद् थे। उन्होंने अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में सुरक्षित चारणी साहित्य को देखा परखा था और उन्होंने इस काव्य कृति ने चमत्कृत किया, इसलिये उन्हें संवत् १६२६ की हस्तलिखित प्रति से इसका संपादन उन्होंने किया जो सन् १६२० में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा मुद्रित किया गया। उसी प्रकाशन को आधार बनाकर भाई मूलचंद प्राणेश ने काव्य का मूल वैशिष्ट्य उजागर करने का प्रयास किया है।

निस्संदेह यह कृति ऐतिहासिक और भाषागत—दोनों दृष्टियों से अतीव महत्त्वपूर्ण है। एक ओर जहां इससे श्यामलदास, कुंवर कन्हैयाजूदेव, किशोरसिंह बाहुँस्पत्य, विश्वेश्वरनाथ रेड और पं० गोरीशंकर ओझा द्वारा प्रमाणित राव बीका की मृत्यु तिथि सं० १५६१ झूठी सिद्ध होती है, वहां दूसरी ओर करणी माता का तथाकथित गौरव और अलौकिक शक्ति का चमत्कार भी ऐतिहासिक वृत्तान्त को असुरक्षित नहीं कर पाता। भाषागत वैभव में यह कृति “गाहा” से शुरू होती है और “कलस” छन्द में समाप्त होती है और पाधड़ी (पद्धटिका) में निबद्ध है जो वयणसगाई के कारण कविकर्म को चार चांद लगा देता है। इसमें ‘स’ और ‘ळ’ का विशेष प्रयोग है। तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों की भरमार है। कुछ अरबी-फारसी शब्द भी प्रयुक्त हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से तुलसीकृत रामायण से पूर्व लिखित इस काव्य में रामनाम की अपार महिमा है। यहां तक की ‘हरहर महादेव’ के रणघोष के स्थान पर यहां मर्यादा रक्षक राम का नाम है—

(१) साथी करन्नसाऊ सनाम । रउद्र दल पइठे कहि राम राम ॥

(२) जइ राम जैपिय हिन्दू जणेहि । घातिया ताम घोड़ा घणेहि ॥

(३) श्री राम जइत सारे निसंक । लोहड़े लसक्कर लियइ जंक ॥

रावजैतसी के युद्ध में कवि ने १०८ घोड़ों के नाम लिखे हैं। उनमें अनेकों के नाम देवी-देवताओं पर हैं जैसे पावुपसाव, करणीपसाइ, देवीपसाइ, सूरिजपसाव, चाउण्ड-पसाव, करणी कुमेर आदि किन्तु युद्ध जीतने का श्रेय शूरवीर सैनिकों को दिया गया है। कवि वीठू सूजा इतिहास का ज्ञाता (वीर) कवि है। उसकी सारी कृति आद्यन्त वीर रस से ओतप्रोत है। उसकी कही कहानी शिलालेखों से परिपुष्ट है।

बाबर की मृत्यु के ठीक ५ वर्ष बाद जबकि हुमायूँ का राजपाट जमा नहीं था, कामरां ने लाहौर में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी और अपना साम्राज्य फैलाने को उसने पहला आक्रमण बीकानेर पर किया किन्तु उसकी विशाल विजयवाहिनी सेना यहां से मुंह की खाकर रात के अंधेरे में भागी। मुस्लिम इतिहासकार इस बात को छिपा गये किन्तु बीकानेर के चिंतामणि मंदिर में सं० १५६२ को लिखा लेख मौजूद है जो लिखता है कि—“श्री मंडोवर मूलनायकस्य श्री आदिनाथादि चतुर्विंशतिपट्टस्य सं०

१५६१ वर्षे मुसदलाधिप कम्मरां पातसाहि समागमे विनाशित परिकरस्य” —इसी तथ्य को वीरू सूजा ने जो युद्ध का प्रत्यक्षदर्शी था जैतसी छन्द में लिखा है ।

छात्रोपयोगी इस संस्करण के लिए संपादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं ।

—परमेश्वर सोलंकी

५. प्राकृत वाक्य रचना बोध—प्रथम संस्करण—१९६१, मूल्य—१०० रुपये, पृष्ठ संख्या—६०२ + १६ । लेखक—युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी । सम्पादक—मुनि श्रीचन्द्र जी ‘कमल’ । प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनूं, नागौर (राजस्थान) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ११८ अध्याय हैं और अन्त में ७ विशिष्ट परिशिष्ट । परिशिष्टों के विषय इस प्रकार हैं—१. प्राकृत शब्दरूपावलि, २. प्राकृत धातुरूपावलि, ३. अपभ्रंश शब्दरूपावलि, ४. अपभ्रंश धातुरूपावलि, ५. अकारादि क्रम से ५४ वर्गों के हिन्दी शब्दों के प्राकृत पर्याय, ६. एकार्थक प्राकृत धातुएं और ७. वैदिक, संस्कृत और प्राकृत की तुलना ।

ग्रंथ का प्रणयन आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर किया गया है । उसके १११४ सूत्र यहां नियम के नाम से दिये गये हैं । साथ में हिन्दी अनुवाद और उदाहरण कहीं-कहीं टिप्पण और नियम के अन्तर्गत उदाहरणों की संस्कृत छाया भी दी है, जिससे अर्थबोध में सुगमता हो गई है । भिन्न-भिन्न वर्गों के शब्द, हिन्दी से प्राकृत एवं प्राकृत से हिन्दी, अनुवाद करने की विधि भी विस्तार से बतलाई गयी है । सातवें से निम्नानवें पाठ तक जो ५४ वर्गों के शब्द दिये गये हैं, वे अनुवाद करने में परम सहायक सिद्ध होंगे क्योंकि व्यवहारोपयोगी जो शब्द प्राकृत शब्द कोश में उपलब्ध नहीं हैं, उनको संस्कृत शब्दकोश से ले लिया गया है और वृक्ष, फल, औषधि, शाक, धान्य, लता और सुगन्धित पौधों से संबद्ध शब्द निघण्टु से लिये गये हैं । इसके अलावा आधुनिक यन्त्र सम्बन्धी जो शब्द संस्कृत में जोड़े गये हैं, उनका प्राकृतीकरण किया गया है ।

शब्दों के आगे ब्रैकट में उनके उद्गम और तीनों लिंगों के परिचायक संकेत दिये हैं । शब्द, धातु और अव्यय सहित ग्रन्थ के अन्त में अकारादिक्रम से विस्तृत शब्दसूची है । विविधविध शब्दों का इतना अधिक संकलन प्रस्तुत ग्रंथ की बहुत बड़ी विशेषता है, जो अन्य प्राकृत शिक्षा की पुस्तकों में नहीं है । इसलिये इसे प्राकृत शिक्षा का अनुपम ग्रन्थ कहा जा सकता है । मैंने प्राकृत अभ्यास के लिए प्रकाशित जिन कृतियों को देखा है, उनमें यह ग्रंथ श्रेष्ठतम है । यह मागधी, पँशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश आदि का परिज्ञान कराने में सक्षम है । फिर भी नियम के रूप में दिये गये १११४ सूत्रों की सूची अकारादि क्रम से प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में दे दी जाती तो प्राकृत अध्येताओं को बड़ी सुविधा हो जाती ।

सर्वांश में अनेक विशेषताओं से युक्त यह ग्रंथ प्राकृत अध्येताओं और अध्यापकों के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होगा । अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में संक्षेप में मैं यही कह सकता हूँ—

पञ्चाशद्वर्षेभ्यः पूर्वं रचितोऽपि मुद्रितः सम्प्रति ।
विलसति प्राकृतवाक्य-रचनाबोधाभिधो ग्रन्थः ॥१॥
श्री युवाचार्यरचितस्तथा च सम्पादितः कमलमुनिना ।
स प्राकृतभाषाया बोधविधायको भवेदाशु ॥२॥
नाना ग्रन्थाः परितः सन्तीह परं नैतादृशः कोऽपि ।
यः प्राकृतभाषाया बोधविधाने क्षमः क्षिप्रम् ॥३॥
आकाशे चन्द्राद्या ज्योतिष्मन्तः सहस्रशो नक्तम् ।
सूर्योदये परं ते जातत्रयया विलीयन्ते ॥४॥

ग्रन्थ रचना, सम्पादन, कागज, छपाई-सफाई और पक्की जिल्द आदि सभी नयना-भिराम और हृदयहारी हैं । ऐसे उत्तम ग्रंथ के प्रकाशन के लिए लेखक, सम्पादक और प्रकाशक—सभी हृदय से अभिनन्दनीय हैं ।

—अमृतलाल शास्त्री

दो पाठकों के पत्र

१. “पूज्य मुनि श्री श्रीचन्दजी द्वारा संपादित ‘प्राकृत व्याकरण रचना बोध’ पुस्तक मिली । पू० युवाचार्य श्री का जहाँ भी मन जाता है वहाँ कुछ नवीन ही मिलता है । आज तक प्राकृत बोध के लिए जितने भी व्याकरण लिखे गये हैं उन सभी में यह एक नया और अनुपम प्रयास है । यह पुस्तक न केवल प्राकृत भाषा सीखने में सहायक होगी अपितु प्राकृत बोलने और लिखने में भी एक उत्तम साधन सिद्ध होगी । विशेषता यह भी है कि अन्य प्राकृत व्याकरण में समास जैसे विषय की चर्चा नहीं रहती, वह प्रस्तुत में मिलती है । शब्द सूची का चयन भी एक नए प्रकार से हुआ है जो अधिक उपयोगी है । प्राकृत सीखने वालों के लिए एक यह अनुपम भेंट है ।”

—दलसुख मालवणिया

२. “मुझे प्राकृत रचना बोध पुस्तक मिली । मैं अभी ‘ब्राह्मण, जैन, बौद्ध साहित्य में महाभूत’—विषयक अपने व्याख्यान की तैयारी में व्यस्त हूँ जो मुझे मार्च के शुरू में ही देना है, किन्तु मैं आपकी पुस्तक को सरसरी दृष्टि से देखने को बाध्य हो गया । यह परंपरागत प्राकृत व्याकरण का विशद अध्ययन है और इससे उन प्रौढ़ व्यक्तियों को भी बहुत लाभ होगा जो किसी कारणवश विद्यालय अथवा महाविद्यालय स्तर पर प्राकृत पढ़ने का सुयोग नहीं पा सके थे ।

आजकल प्राकृत भाषाओं के दुर्दिन है किन्तु यदि इस पुस्तक के अनुसार पाठ्यक्रम तैयार किए जाएं तो विद्यालयों में प्राकृत पढ़ने में बहुत सहूलियत होगी और प्राकृत शिक्षकों को भी इससे बहुत सहयोग मिलेगा । सन् १९२८ में जब मैं ‘हेमचन्द्र व्याकरण’ पढ़ रहा था तो पालि-प्राकृत के

प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० डॉ० पी० एल० वैद्य के मार्गदर्शन में मैंने ऐसी ही पुस्तक लिखने का संकल्प किया था किन्तु प्रशासनिक कार्यों में अतिव्यस्त रहने से मैं अभी तक उसे पूरा नहीं कर पाया; इसलिये इस पुस्तक लेखन के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें, जो हिन्दी माध्यम से प्राकृत अध्ययन में निस्संदेह महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी ।

—डॉ० जी० वी० तगारे
ए-४, परंजपे हार्डिसिंग स्कीम
माववनगर रोड, सांगली

६. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि—लेखक—कामता प्रसाद जैन, प्रकाशक—श्री रघुवरदयाल जैन स्मृति ग्रन्थमाला, नई दिल्ली । प्रकाशन वर्ष—१९६१, पृष्ठ सं० १६२, मूल्य—स्वाध्याय ।

प्रस्तुत पुस्तक में दिगम्बरत्व का प्रतिपादन किया गया है और इसे निर्दोषता, निर्भयता, निःशंकाता, निरपेक्षता, निर्विकारता, निश्चितता तथा निर्लोभता का सूचक बताया गया है । वास्तव में छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में साधक के लिए वस्त्र ग्रहण करने का विकल्प ही नहीं आता । संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ के सिवाय अनन्तानुबन्धी आदि तीनों कषायों की चौकड़ी का अभाव हो जाने से उनके पूर्ण निर्ग्रन्थ दशा प्रकट हो जाती है । जब आत्मा में ही कोई ग्रंथि नहीं रही, तब तन पर वस्त्र की गांठ लगाने की बात ही नहीं उठती ।

वैसे अचल वह सचल के पक्ष-विपक्ष में अनेकों तर्क दिए जा सकते हैं, उनके लाभ-अलाभ गिनाए जा सकते हैं, परन्तु वे सब कुतर्क होंगे क्योंकि वस्तु के स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता । वस्तु का स्वरूप तो तर्क-वितर्क से परे है । पानी ठंडा क्यों होता है ? नारी के मूँछें क्यों नहीं हैं ? आदि प्रश्नों की तरह दिगम्बरत्व ठीक है या नहीं—इस पर भी कोई बहस नहीं हो सकती । तथापि मुनि को लोक व्यवहार और सामाजिक मर्यादा का ध्यान रखते हुए अन्यों को भी मोक्ष मार्ग का पथिक बनाने के लिए दिगम्बरत्व की अवधारणा पर नए युग के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करना चाहिए ।

लेखक ने प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्कमिडीज का उदाहरण दिया है जो भावावेश में सारे नगर में नग्न घूमा था और उसने आदि प्रचारक ऋषभदेव का उदाहरण देकर दिगम्बरत्व को उचित ठहराया है तथा इसी को मनुष्य की आदर्श स्थिति सिद्ध किया है । पुस्तक में आद्योपान्त दिगम्बर साधुओं की जीवनचर्या का बखान किया गया है तथा देशी शासकों व विदेशी आगन्तुकों द्वारा इसे सम्मान्य ठहराया है । विविध ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा लेखक ने दिगम्बरत्व को शाश्वत सुख दिलाने वाला राजमार्ग माना है किन्तु पुस्तक में रचनाकार को सर्वथा का अज्ञात ही रहने दिया गया है । 'प्रकाशकीय' तथा 'अन्तर्भावना' के अन्तर्गत जो स्वकथ्य प्रस्तुत हुआ है, वह भी आत्मश्लाघा से भरपूर है । फिर भी दिगम्बरत्व का रहस्य जानने के लिए इस पुस्तक की उपादेयता असंदिग्ध है ।

७. सचित्र तीर्थंकर चरितावली—रचनाकार—जीवन प्रकाश 'जीवन', प्रकाशक

—आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रकाशन वर्ष—१९८३,
पृष्ठ—१८८, मूल्य—१५ रु० ।

तीर्थंकर भगवन्तों के गुणानुवाद से मानव को उत्तरोत्तर सद्गति की ओर बढ़ते जाने की प्रेरणा मिलती है । तीर्थ वह साधना केन्द्र होता है जहाँ से जीवन को परम तत्त्व तक पहुँचने की दिशा प्राप्त होती है, उस तीर्थ का निर्माण तीर्थंकर करता है । तीर्थंकर वह होता है जिसकी माता ने उसके गर्भ में आने से पूर्व १४ स्वप्न देखे हों, जो अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि १२ गुणों से युक्त हो, जिसमें १२ अतिशय लक्षित हों, जिसकी वाणी में ३५ लोकोत्तर गुण हों, जिसका जीवन षड् दोषों से रहित हो, जिसने केवलज्ञान (पूर्व भगवत्ता की स्थिति) प्राप्त कर ली हो । उन्हीं २४ तीर्थंकरों का सचित्र चरित इस पद्यबद्ध कृति में है ।

रचयिता जीवनप्रकाश 'जीवन' बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से पाठकों को निमन्त्रण दे रहे हैं कि इन २४ तीर्थंकरों के चरित्र पढ़ें :—

भारत का मान छिपा इनमें,
भारत की इनमें आभा है ॥

कवि ने भारत भूमि, धर्मध्वजा, ॐ तथा नवकार मन्त्र पर सारगर्भित सामग्री प्रस्तुत करके २४ तीर्थंकरों का हृदयहारी वर्णन अपनी सहज, सुन्दर, बोधगम्य भाषा में किया है ।

सम्भव बोला—“किन्तु पिताजी, कैसे कर्म असम्भव होगा ?

मैं तो अनश्वर राज्य का इच्छुक, मुझसे यह न संभव होगा ।

तात ! जिसे तुम त्याग रहे हो, उसमें मुझे फंसाते क्यों ?

स्वयं चाहते अमृत पीना, मुझको जहर पिलाते क्यों ?”

पुस्तक की विशिष्टता यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर के चित्र तथा उसकी पृष्ठभूमि में उसके जीवन का कोई सार्थक प्रसंग दर्शाया गया है जो कवि के काव्यकौशल का परिचायक है । पुस्तक के अन्त में चित्रों में अन्तर्निहित जीवन-प्रसंगों का खुलासा करके कवि ने पाठकों को चरितावली का हार्द हृदयंगम कराया है ।

प्रत्येक तीर्थंकर के लिए २७ बातों का उल्लेख किया जाना अभीष्ट है जो कवि ने विस्तार भय से नहीं किया है, परन्तु कई स्थानों पर अनावश्यक विस्तार हुआ है, उसे कम करके भरपूर सामग्री दी जानी चाहिए थी । प्रूफ संशोधन ढंग से नहीं हुआ लगता है । मुद्रण, गेट-अप मनोहर है । एक अजैन व्यक्ति द्वारा रचित यह काव्य सत्यं, शिवं, सुन्दर की त्रिवेणी है ।

—रामस्वरूप सोनी

पत्राक्ष :

१. 'तुलसी प्रज्ञा के अंक ३ खण्ड १७ की प्रति हेतु आभारी हूं। इस शोध-पत्रिका में आपने बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की है। पुरातत्त्व विषयक समाचार भी आह्लादजनक है व विदेशी विद्वानों का परिचय भी। इन स्तंभों को जारी रखना चाहिये। प्रत्येक अंक में ऐसे लेख प्रकाशित हों सकें तो श्रेयस्कर होगा। पत्रिका का कलेवर भी सुन्दर है। यह निश्चित ही एक उच्चकोटि की पत्रिका बन जावेगी। प्रभु! आपकी साधना स्वस्तीमती करें।'।

—रत्नचन्द्र अग्रवाल, भूतपूर्व निदेशक
पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर-१५

२. 'तुलसी प्रज्ञा का अक्टूबर-दिसम्बर, १९९१ का अंक मिला। धन्यवाद। दिन पर दिन इस अनुसन्धान पत्रिका का संपादन निखरता जा रहा है। लगता है अगर यही क्रम जारी रहा तो यह पत्रिका जैन धर्म की एक श्रेष्ठ अनुसन्धान पत्रिका बन जायेगी। अस्तु, आप अगर जैन धर्म से हटकर भी इसमें कुछ अनुसंधानपरक सामग्री दें तो उचित होगा।'

—डॉ० गिरिजाशंकर शर्मा

अलखसागर कूप के पास, बीकानेर

३. 'आज "तुलसी प्रज्ञा" के अक्टूबर-दिसम्बर, १९९१ के अंक से पता चला कि आप तो 'जैन विश्व भारती' में पहुंच गये हैं। आपके और विश्व भारती के लिए यह मणिकांचन संयोग है। तुलसी प्रज्ञा के रूप-स्वरूप में आपके द्वारा जो सुधार हुआ है, वह प्रशंसनीय है। आपका संपादकीय तो पत्रिका में प्रकाशित सभी लेखों से उत्कृष्ट एवं खोजपूर्ण है। आपकी प्रतिभा का शत-प्रतिशत सही उपयोग इस पत्रिका के द्वारा ही होगा। इसमें संशय नहीं है। आप जैसे विद्वान् को तो बहुत पहले विश्व भारती वालों को बुला लेना चाहिए था। खैर, देर आयद दुस्त आयद।

पत्रिका की अन्य सामग्री भी शोधपूर्ण है। इस तरह की सामग्री-संकलन का श्रेय तो आप ही को जाता है। बधाई।'।

—मूलचन्द्र 'प्राणेश'

झझू (बीकानेर)

४. 'तुलसी प्रज्ञा का अक्टूबर-दिसम्बर अंक देखकर संतोष हुआ। लगभग

६-७ वर्ष पूर्व इसका नियमित पाठक था। अब इसके स्तर और कलेवर दोनों में ही विकास हुआ है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए हार्दिक बधाई स्वीकारें।

मेरा सुझाव है कि जैन विद्या में शोध करने वाले छात्रों, विद्वानों को व्यक्तिगत रूप में यह अर्घ्यशुल्क में दी जानी चाहिए जैसी कि उच्च शिक्षा की अधिकांश पत्रिकायें दी जाती हैं। यदि ऐसा होता है तो पहला ग्राहक आप मुझे समझें।'

—डॉ० कपूरचंद जैन

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

श्री कुन्दकुन्द जैन महाविद्यालय, खतौली-२५१२०१

५. 'आप द्वारा संपादित अक्टूबर-दिसम्बर, १९९१ का तुलसी प्रज्ञा का अंक प्राप्त हुआ। इस उच्चकोटि सम्पादन के लिए बधाई। इस अंक की सामग्री को खोजपूर्ण एवं पठनीय पाया। 'भारतीय दर्शन की आशावादिता एवं प्रगतिशीलता'—लेख अमिट छाप छोड़ने वाला एवं अनूठा है। इसी प्रकार अन्य लेख भी शोधपूर्ण सामग्री से भरपूर हैं और यह अंक संग्रहणीय है।'

—डॉ० भीमराज शर्मा

केन्द्र निदेशक, आकाशवाणी, नागौर

६. 'तुलसी प्रज्ञा' का नया अंक मिला। इसमें प्रकाशित सभी लेख तथ्यपूर्ण और विचारोत्तेजक हैं किन्तु मैं 'वीरकाल' पर ही कुछ कहूंगा।

बालीजी के लेख और उस पर आपकी टिप्पणी को पढ़कर मैंने जुलाई-सितम्बर, १९९१ के अंक पर पुनः दृष्टि डाली तो बुद्ध का २१वां वर्षावास और महावीर का ३०वां वर्षावास समकालीन लगे। अतः महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के प्रायः २५ वर्ष पूर्व आता है (४६—२१=२५)।

बुद्ध का निर्वाण १८०९ ई० पू० है और उन्होंने ८० वर्ष की आयु पायी थी अतः उनका जन्म १८८९ ई० पू० होगा। वीर की आयु ७२ वर्ष है अतः उनका निर्वाण १८३४ ई० पू० और जन्म १९०६ ई० पू० होना चाहिए। इस प्रकार बुद्ध का जन्म महावीर के १७ वर्ष बाद हुआ।

चूँकि बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के शासनकाल के आठवें वर्ष हुआ अतः वीर निर्वाण के समय वह राजा नहीं अपितु युवराज ही रहा होगा। जैन या बौद्ध ग्रंथों में इसके विशद कहीं कुछ मेरी जानकारी में तो नहीं ही है।'

—उपेन्द्रनाथ राय

मटेली (पश्चिम बंगाल)

७. 'मुरियकाल वोछिने चोयठ अंगे' विषयक आपके सम्पादकीय को देखा। काफी दिलचस्प है। यदि उचित समझे तो मेरी पुस्तक *The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka—a critical study* देख लें। तुलसी प्रज्ञा के इस अंक में पर्याप्त उपयोगी सामग्री है जिसके लिए बधाई स्वीकार करें।'

-डॉ. शशिकांत जैन, संपादक, शोधादर्श
ज्योतिनिकुंज, चारबाग, लखनऊ

८. 'जैन विश्व भारती में जन्मी 'तुलसी प्रज्ञा' अपने यौवन में विश्वविद्यालयवरण के साथ ही इसका निखार स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। उसे स्वतः ही विश्व विद्यालय की मुख पत्रिका बनने का गौरव मिल गया है। पत्रिका शोधपूर्ण लेखों से विवाहित कलेवर और कथानक, आचार्य श्री तुलसी की तपोनिष्ठ दृष्टि को उजागर करने में अग्रसर है। यह प्रसन्नता की बात है। यह एक ओर इतिहास की ऊंचाइयों को छूती है तो दूसरी ओर अध्यात्म की गहराइयों में गहराती हुए प्रतीत हो रही है। जैन वाङ्मय और प्राकृत के साथ-साथ भारतीय दर्शन पर पर्याप्त चिंतन कर रही है।

मैं आपके सफल चयन और सम्पादन के लिए बधाई भेजता हूँ।'

—रतनलाल कोठारी, जयपुर

९. 'हमें आपके द्वारा प्रेषित 'तुलसी प्रज्ञा' त्रैमासिक पत्रिका प्राप्त हुई। पत्रिका में जो जैनों और बौद्धों का तुलनात्मक अध्ययन दिया गया वह अति पठनीय है। इस प्रकार के लेख पढ़ने की हमारी अत्यधिक रुचि है एवं सम्पादक महोदय द्वारा पुस्तक-समीक्षा स्तंभ में लिखित "मूकमाटी महाकाव्य" जो कि आचार्य विद्यासागर रचित है पर अपनी समीक्षा बड़ी सारपूर्ण लगी एवं पं० अमृतलालजी शास्त्री द्वारा मुनि-मनोरंजनाशीति जो कि आचार्य ज्ञान सागर द्वारा रचित है पर उनकी संक्षिप्त समीक्षा भी पढ़ी जो कि कम शब्दों में पुस्तक का सार है।'

—श्री रजनीश

श्री विद्यासागर साहित्य संस्थान
अतिशय क्षेत्र, पनागर

१०. 'जरमन स्कोलर्स का लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जिन विदेशी विद्वानों ने जैन धर्म, साहित्य, इतिहास पर काम किया है उनकी जीवनी अलग से लिखाई जानी चाहिये और विश्व भारती से उसका प्रकाशन हो। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण काम होगा।'

—हजारीमल बांठिया

पंचाल शोध संस्थान, कानपुर

Tulsi Prajñā

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

Vol. XVII

January-March, 1992

No. 4

(ENGLISH SECTION)

Editor :

Dr. Parmeshwar Solanki



**Jain Vishva Bharati Institute,
Deemed University, Ladnun-341306**



Hermann George Jacobi

Born : 11, Februar, 1850 Koln : Died : 19, Oktober, 1937 Bonn

[Dr. Hermann Jacobi dared to go deep into the Jain canonical literature and translated into english आचारंग सूत्र; कल्प सूत्र; उत्तराध्ययन & सूत्रकृतान्त— the four pillars of Jain canons. He laid the foundation of Jain studies and others constructed the edifice of Jainism. Professors Leumann, Hoernle, Weber and Klatt and Hofrat Buhler & Mr. Lewis Rice were the architects who built it.

Dr. Jacobi was the first scholar who understood the antiquity and importance of the Jain canons and concluded that Jainism had already existed a considerable time before the advent of Buddha. The study of Jain canons revealed that nearly everything is possessed of a soul and thinking its base on primitive animism he paved the way to understand the *syādvād* (स्याद्वाद) side by side with the primitive conception of the Vedic Hindus, already noted by Oldenberg Die Religion des Veda, P. 317 f.

Furthermore he opined that Jainism and *Vaiśeṣika* (वैशेषिक) embrace *kriyāvād* (क्रियावाद), and both advocate the doctrine of *asatkārya* (असत्कार्य), that the product is different from its material cause; therefore they could go a part of their way together. —Editor]

EVERY JAIN SHOULD LEARN SANSKRIT

—*Hermann Jacobi*

[A speech delivered by Dr. Hermann Jacobi, M.A., Ph. D. of Bonn (Germany) on a visit to the Eighth Acharya of the Svetambar Terapanthi sect, at Ladnun on 9th March, 1914 is reproduced here.

—**Editor.]**

Gentlemen,

I have now been three days in your town of Ladnun where I have been invited by the Jain Svetambar Terapanthi community. I have enjoyed your great hospitality and I gladly avail myself of this opportunity to offer my cordial thanks to all who have come from near and distant places to meet me and who have vied with each other to make my stay in Ladnun a very pleasant and successful one. As I am told, I am the first European who has come to this town. May my visit, which has given so much satisfaction to me, I hope same to you, be an auspicious omen—a *Maṅgala*—for the friendly relations of the two races—European and Indian.

I have been much interested in seeing your town with its splendid mansions and its fort with its historical memories and I shall not forget what has made so deep an impression on my mind. But the purpose for which I came and for which I was expressly invited to see your *Pūjyaji Mahārāj* and to collect information about the Jain Svetambar Terapanthi sect at the foundation head—in this respect my visit was a full success.

I had some lengthy conversations with the *Pūjyaji Mahārāj Shree Kaluramji* who has most kindly shown and explained to me important passages on the Jain Śāstras and enlightened me besides on many important points of interest, e.g., on the very strict rules of conduct to which the J.S. Terapanthi Sādhus must comply. And other gentlemen too have taken much trouble to inform me about

the organisation of the J.S. Terapanthis, the working of which I have observed with my own eyes when I was present at the meeting of *Sādhus* and *Mahāsatis*, of *Shrāvaks* and *Shrāvīkās* under the guidance of your venerable head *Guru*, the *Pūjyaji Mahārāj*. It so happened that during my presence in Ladnun, the ordination of a man and his wife took place and I could witness the ceremony. Moreover, on this very morning I have been present at a *शिक्षा* (i.e., the public examination of *Sādhus*). Thus I have been able to form a correct idea of the instructions and the religious life of the J.S. Terapanthis, about whom so little is known to the public in Europe and America. I may say, that thanks to the readiness of all to give me information, the purpose of my visit to Ladnun has been entirely fulfilled and that I am now in a position, wherever an occasion offers, to speak with authority about the J.S. Terapanthis and their religion.

Before I conclude, I should like to make another remark. I have been told that the Terapanthis, like the other sections of the Jain Church, make efforts to improve the education of their youth. Now I would direct your attention to one point. I have met many Jains who had a full command of the English language but very few who have mastered even the elements of Sanskrit, the learned language of their own country. In my opinion, which I hope is shared by most of you, **it should be the duty of every educated Jain to learn Sanskrit**, not to pass an examination in that language, but to be able to read the works of their own literature. Of course for that purpose, you should not study Sanskrit as the Pandits teach it. The niceties of grammar are not wanted by one, who learns Sanskrit, to read books written in an easy style. What is wanted is the knowledge of the rudiments of grammar, declination, the verbal system and compounds and the principal means to reach the aim will be to read easy texts, not difficult ones; and to read extensively and not only small portions and selected specimens. It will be necessary to fix the method to be employed in the schools to be founded. You must settle these principles in conjunction with all the sections of Jains. *Swetāmbers* and *Digambers*, *Sthānakvāsins* and *Terāpanthis* must forget their quarrels and devise together the plan for the higher Jain education. By united efforts only you will be able to come to satisfactory results.

And now, Gentlemen, I must conclude with deeply felt thanks for your liberal hospitality, for the cordial welcome you gave me and for so many acts of kindness which I never shall forget. So I say farewell to you and your community. May it continue to prosper and progress for all times and in all places ! ●

Dr. Jacobi's Contributions to Indology

1. Kalpa-Sūtra of Bhadrabāhu, Leipzig, 1879,
2. Das Kālkācārya-Kathānakam, Z.D.M.G., xxxiv, 1880.
3. The Āyāraṅga sutta of the Śvetāmbara Jains, Pali Text Society, London, 1882.
4. The Ācārāṅga-Sūtra and the Kalpa-Sūtra, S.B.E., xxii, 1884.
5. Śāhvirāvali-carita or Pariśiṣṭa Parva of Hemcandra, Calcutta, 1891.
6. The Uttarādhyayana-Sūtra and the Sūtrakṛtāṅga-Sūtra, S.B.E., XLV, 1895.
7. Die Entwicklung der Gottesidee, Kurt Schroder Verlag, Bonn 1923.
8. Samarāicca-Kahā of Haribhadra, Calcutta, 1926.
9. Pariśiṣṭa Parva of Hemacandra, Sanskrit Text, Bibliotheca Indica, No. 96, Calcutta, 1932.

ARTICLES

1. On Mahāvīra and his Predecessors I.A., ix, 1880, PP. 158 ff.
2. Ueber die Entstehung der Śvetāmbara und Digambara Sekten, Z.D.M.G., xxxviii, 1884, PP. I ff.
3. Atomic Theory (Indian), E.R.E., ii, 1909, PP. 199 ff.
4. The Dates of the Philosophical Sūtras of the Brahmans, J.A. O.S., xxxi, 1909-10, PP. I ff.
5. Sacred Literature of Jainism, I.A., Vol. 15-21.
6. Studies in Jainism by H. Jacobi, ed. J.V. Muni, Ahmedabad, 1946.

—Parmeshwar Solanki

SOME PARTICULARS OF THE JEYNES*

[Mr. Mordaunt Ricketts, the British Resident at the Court of Oude, visited Seringapatam, the capital of Mysore in 1805 A.D. and from there he wrote a letter to his friend, Lieut. Col. William Francklin (in service of the then East India Company) and narrated therein some details of the Jains. The details are of general interest.

—Editor.]

“There are still extant,” says Mr. Ricketts, “some historical poems of the Jeynes, relating their destruction by the Brahmins, in several dialects of the Peninsula, such as the *Chintāmaṇi*, which is written in poetical Tāmul, and there are traditions concerning them in almost every part of the country. The persecution in which they were ruined was chiefly fomented by *Śaṅkarāchārya*, a great leader of one of the Hindoo sects. One tradition at Seringapatam is, that during the reign of a certain rajah of Mysore, while the Brahmins and Jeynes existed conjointly, a considerable controversy occurred concerning the moon’s age, between the reciters of the *Paṅganyam* belonging to the Jeynes and Brahminical sects. At last the rajah, being enraged, swore to destroy without mercy the sect which should be found to be erroneous in their calculations.

“The Jeyne calculations, from their superior skill in astronomy, were really correct, and those of the Brahmins erroneous; but the latter, in their exigency, had recourse to one of their holy men, at a signal by whom, the moon, contrary to the laws of nature, suddenly appeared in heaven, to verify the Brahminical imposture. On this, the most merciless persecution was instantly fomented to the Jeynes. It is curious that the Brahmins should preserve this relation.

The Jeynes claim to themselves the composition of the *Vedas*, and the original materials of the *Purāṇas*, and indeed, of the principal books possessed by the Brahmins. From the whole train of their tenets, it is impossible to consider them as any other than a Brahminical sect, though differing from the common belief in many essential particulars. According to some, Boodh is the sect of Jeynes; but the Jeynes of Mysore disdain any connexion with the Boodhists and when they rise in the morning, the first thing they do is to recite a curse or imprecation on the Brahmins.

“The Jeynes are a religious sect which differs in many respects

from the Brahmins, especially in the worship of fire. They reckon their own to have been the primitive religion.

“The Jeynes should abstain from the following things :

From eating at night; slaying any animals; eating the fruit of those trees which yield milk, pumpkins, young bamboo plants, from eating honey, from flesh, from taking away the wealth of others, taking by violence a married woman, eating flowers, butter or cheese and worshipping the gods of another religion. To abandon these entirely is to be a proper Jeyne. They never drink intoxicating liquors. They never observe funeral ceremonies, for their law says : The spirit is separate or distinct from the body, which is composed of five elementary parts, that return to their former states after burning; to the deceased, therefore, no ceremony is due.

A man of superior abilities and knowledge should feed himself with *Ghee* or clarified butter, the best food while he lives in the world, for his body never returns after it is burnt.

What a man giveth, eateth or drinketh in this world is of no advantage to him, for he carries nothing with him at his end.

A man of sense should believe only what he sees with his own eyes, and should never believe what he hears from others. The foolish people of other tribes, being deficient in knowledge, spend money in vain, on account of their deceased relations, for how can a dead man feel any satisfaction in the performing of ceremonies, and the feeding of others ? A lamp no longer gives light by having oil enter it, after the flame is extinguished.

To abstain from slaughter is perfection, to kill any living creature is a sin.

For the information of mankind be it known, that the foundation of ages, or times is countless. We ought, therefore, to believe that human kind are ignorant of the true knowledge of the origin of things, which is known only to the Almighty, whose state is without beginning and end, who has obtained eternal victory over the frailty of nature and earthly affections. The Jeynes, nevertheless, do not believe in a god dwelling in the Heavens, because none has seen him, but they worship their high priests, who by sublime penance, have risen above the frailties of human nature, as images, or incarnations of the invisible God, of whom they say, that he has no likeness and that his body may be compared to an image of transparent crystal.

The Jeynes reckon two great periods of time, which they term

Voocharperee and *Avasarperee*, which revolve constantly, and each of which contains six inferior divisions. The first period, *Avasarperee*, the second great division is termed *shoocama*, contains likewise four inferior divisions or ages, during which the fertility of the earth and human stature and human virtues gradually decreased till the beginning of the fourth age, when mankind were reduced to miserable savages. At this period *Prooshbanund Teartaroo* was incarnated to teach the knowledge of good and evil, and if possible, to arrange the duties and occupations of men and to instruct them to acquire the advantages of earth and heaven.

He divided mankind into four great classes, Brahmins, Chutress, Veasyas, and Soodras, after whom came the Pariars. He composed many books in the Sanscrit language, amongst which is the *Amra Lingham*.

The original languages, which the Jeynes used, were the Sanscrit and Pracrit, but the greater part of their ancient books are, at present, written in the ancient caniarā character.

Their modern Pagodas were founded by Chanover Daroy, the prime minister of Rajah Muttu Jeyne, king of Madura. In their chronologies they say, that after the reigns of the Jeyne sovereigns, there reigned the Chotturoos or Rajahs, of the chuttree caste, the Ballaroods, or Ballies, until the reign of Begul Rajah, when the Dekhan was conquered by the modern Brahmins. The Dekhan, after this, remained under the authority of the Rajah of Bijanugur or Worongola, until the Mahomedans, in their turn, attacked and conquered it.” ●

* Reproduced from the ‘Researches on the Tenets and Doctrines of the Jeynes and Boodhists’ by Lient, Col, William Francklin, London, 1827, Appendix-II P. 210-213.

ON THE CONCEPT OF TRUTH IN JAINISM

● Dr. B.K. Khadabadi

It is difficult to define poetry in a sentence or two; but we can describe its nature for duly understanding what poetry is. Similarly it is equally difficult to define truth; but its nature can be described and understood. In the context of the Householder's Ethical Discipline i.e., *ācārādharma*, the Jainācāryas have given it still a considerably wide connotation, which Prof. R. Williams calls the Jaina interpretation of truth.¹

Authorities on the Householder's Code of Conduct—*Śrāvakācāra* present several aspects of the nature of truth as follows :

Umāsvāmi states² that speaking what is not commendable is falsehood; and Pūjyapāda, the reputed Commentator, explains that what causes pain or suffering to a living being is not commendable, whether it refers to the contextual fact or not. Thus the spoken words that inflict any kind of injury to living beings is falsehood. Almost bringing out the same purport and elucidating the scope to some extent, Svāmī Samantabhadra states³ : Abstaining oneself from speaking and from making others to speak gross falsehood, and also from truth that causes injury to others, is called by sages. *Satyāṇuvrata*—the Minor Vow of Truth. Vasunandi says⁴ : One should not utter untruth out of attachment—*rāga* or hatred—*dveṣa*, and even truth if it causes destruction of a living being. Svāmī Kārtikeya presents⁵ the very Jaina view of lay life and culture in this regard : The *Satyāṇuvrata*—the Minor Vow of Truth is abstinence from harmful, rough, cruel or secret-divulging speech and the use of harmless and balanced words that give satisfaction to living beings and also words that express sacred truth. The *Sāvaya-panṇattī* however, records⁶ the positive aspect of truthfulness : One's speech should be based on the pursuit of the good for both the worlds and also on the avoidance of what is harmful to oneself, to others and to both together. But Amṛtacandrasūri's treatment of the Minor Vow of Truth is quite worth noting, though he has adopted a negative approach to truth⁷ :

Any statement made through *Pramattayoga*—careless activity of body, mind or speech is falsehood. It is of four kinds :

(i) Denying the existence of a thing with reference to its posi-

tion, time and nature, when it actually exists. For example, to say "Devadatta is not here" when he is actually present there.

- (ii) Asserting the existence of a thing with reference to its position, time and place, when it does not exist at all. For example, to say "The pitcher is here" when it is not at all there.
- (iii) Representation of an existing thing as something different from what it really is. For example, when a horse is said to be a cow.
- (iv) When a speech is ordinarily *garhīta*—condemnable, *Sāvadya*—sinful or *apriya*—disliked.

Moreover, according to Amṛtacandrasūri, back-biting, harsh, unbecoming, nonsensical or unethical speech is condemnable. That kind of speech which provokes another to indulge in causing injury like piercing, cutting, beating etc., or which is likely to lead to destruction of life is sinful; and speech causing to others uneasiness, pain, hostility, misery or anguish etc., is disliked. All these kinds of speech are actuated by *pramattayoga*—passion in the form of anger, greed, hatred or deceit and, hence, by falsehood, which involves *himsā* or injury of some of kind or other⁸. But when a Sage or preceptor extends sound and beneficial advice to others regarding their bad habits or vices etc., he cannot be said to have uttered false words, even though the concerned person may feel as harmed, uncomfortable or hurt (for the time being). Hence attention is always the determining factor in each case.

With a view to explaining the deeper implication of the Minor View of Truth—*Satyāṇuvrata*, the Jainācāryas, both the Digambara and *Śvetāmbara*, have given in their treatises on the Householder's Code of Conduct—*Śvavakācāra* various classifications of *asatya*—falsehood and *satya*—truth.⁹

Lastly, we should note, that these Ācāryas have cautioned the householder against five principle *aticāras*—transgressions¹⁰, to be meticulously avoided in the course of their righteous life.

- | | |
|------------------------------|--|
| (i) <i>mīthyopadeśa</i> | —false preaching or advice |
| (ii) <i>rahasobhākhyaṇa</i> | —disclosing other's secrets |
| (iii) <i>kūṭalekhakṛti</i> | —forgery |
| (iv) <i>nyāsoṣaḥaraṇa</i> | —breach of trust |
| (v) <i>sākāramantrabheda</i> | —divulging inferences drawn from behaviour or gestures |

All this deliberation, with relevant textual evidence from ancient

and medieval authorities on the Householder's Code of Conduct—*Śrāvaka-dharma* or *Śrāvakācāra*, leads us to conclude that the Jainācāryas investing *Satya*—truth with considerably wider connotation and special interpretation is a very thoughtful and commendable effort that ultimately goes to strengthen the Jaina Supreme Doctrine of Ahimsā.

Notes and References :

1. Prof. R. Williams observes that the term *Satya* has been given such a wide connotation that it is scarcely possible to render it merely as 'truth'. Its specifically Jaina interpretation was already apparent to Ācārya Pūjyapāda and its amplitude has been concisely expressed by Ācārya Vasunandi. Vide *Jain Yoga*, London Oriental Series, Vol. 14, London, 1963, P. 71.
2. (i) *Tattvārtha-sūtra*, VII-14.
(ii) *Sarvārthasiddhi*, VII-14.
3. *Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra*, V. 35.
4. *Vasunandi Śrāvakācāra*, V. 210.
5. *Kārtikeyānuprekṣā*, V. 333-34.
6. *Sāvaya-panṃattī* (with the Commentary of Haribhadrasūri), Ed. Shri V.K. Paramanand, J.J. Mandal, Bombay, 1905, V. 264.
7. *Puruṣārtha-siddhyupāya*, Sacred Books of the Jainas, Vol. IV, Lucknow, 1933, Vs. 91-100.
8. (i) Hence here truth assumes the form of *ahimsā*—nonhurting or non-injury.
(ii) This reminds us Gandhiji's '*Experiments with Truth*'. For him truth and non-violence were almost synonymous.
(iii) And Amṛtacandrasūri in his *Puruṣārthasiddhyupāya* has systematically tried to convince us that every other vow in Jainism is but another form of the first vow viz., *ahimsānūvrata*.
9. Prof. R. Williams has noted them with certain observations, *Op. cit.*, pp. 71-73.
10. (i) Jainācāryas, both Śvetāmbara and Digambara, have given different designations for some of these transgressions—*aticāras*; and even when all of these five bear the same designations, divergent interpretations of them are presented by different Ācāryas. This phenomenon can be taken as nothing but looking at a thing from different angles of vision.
(ii) Here I would present only Amṛtacandrasūri's list as a representative pentad. □

NON-VIOLENT ACTION IN JAINA ETHICS

● Nagendra Kr. Singh

The historical origin of *ahimsā* in Jainism is not definitely known, Mahāvīra was contemporary of Buddha, but the Jainas claim that Mahāvīra was twentyfourth *tīrthaṅkara*.¹ He devoted his entire life to spread the ideal of non-violence. All his sermons are full of great devotion towards the cause of *ahimsā*. He gave not only valuable ethical sermons for mental discipline, but also charming stories and fascinating fictions to educate the people in the ways of this virtue also.² Radhakrishnan writes that Pārśvanātha is said to have died in 776 B.C., and adds : "There is no doubt that Jainism prevailed even before *Vardhamāna* (Mahāvīra) or Pārśvanātha. The 'Yajurveda' mentions the name of three *tīrthaṅkaras*—Ṛṣabha, Ajitanāth and Ariṣṭanemi. The '*Bhāgavata Purāṇa*' endorses the view that Ṛṣabha was the founder of Jainism."³ Few scholars except the Jainas themselves are, however, willing to go so far as to claim that the origin of *ahimsā* is in Jaina philosophy.

Non-Killing of living beings is the central conception of Jaina ethics and tremendous care they take in trying to practise it, is peculiar to Jainism. Umāśvāmi⁴ prescribes five precautions against killing : *vāggupti* (preservation of speech), *Manogupti* (preservation of mind), *Iryā* (care of walking), *Ādāna-Nikṣepanā* (care in lifting and laying down things); and *Ālokitapāna-bhojana* (thoroughly attending to one's food and drink). Kundakunda, a Jaina *āchārya*, has also described the rule of careful walking, which he called "*Iryā Samiti*" in following words :

"A saint who walks upon a trodden path, free from living beings in daytime looking carefully a distance of four arms' length (two yards), ahead (is said) to observe carefulness of walking."

A saint should avoid walking on the grass. Particularly in the rainy season many living beings may be killed under foot unintentionally. Many Jaina *munis* (saints) will sweep the trodden path in front of them with soft broom, so that it is free from living creatures. A *muni* should not cook his own food, but he can take food prepared by others, if it is not specially cooked for him, which eating he should make sure that no living beings are in the food.⁶

Besides it, there are many minor rules in connection with eating. One can take vow to observe the fortnightly fast (*poṣadhovavāsa*) or refrain from eating fresh vegetables, because they are in form of life. He should not eat at night (*Rātribhukta tyāga*), because after sunset there are numerous insects, which may drop in the food.⁷ The Jaina monk (and nun) should keep cloth before his mouth so that his breath may not kill small germs living in the air. The careful behaviour of a monk towards tiny living creatures is well described in the "*Uttarādhyayana sūtra*" in the following verses :

"He should not build a house, nor cause others to erect one, for many living creatures, both mobile and immobile, both subtle and gross, may be killed, when a house is being built;.....there is nothing so dangerous as fire, for it spreads in all directions and is liable to destroy many creatures; one should therefore not light a fire."⁸

These quotations show the peculiar character of Jaina *ahiṃsā*. Dasgupta says that it means "not taking any life even by mistake or unmindfulness."⁹ Now we have to emphasize the word "*any life*" because the Jainas have made an effort to extend *ahiṃsā* equally to all living creatures. The life of the animal with five senses is scarcely less important than that of man. The ideal seems to be to extend *ahiṃsā* equally to all living creatures. It seems to be to count every organic life unit as one, and none as more than one. Another point to be noted is that killing even by mistake or carelessness is a crime according to Jaina ethics.

The ethical discipline in Jainism consists of two vows (*vrata*)—*Aṇuvrata* (partial vow), and *Mahāvratā* (full vow).¹⁰ *Aṇuvrata* means limited abstention from five great sins : *hiṃsā* or injury, *aṇṛta* or falsehood, *steya* or theft, *abrahma* or unchastity, and *parigraha* or worldly attachment. Laymen can take this limited vow and practise these virtues only in the restricted way so that their occupation does not suffer, while ascetics are requested to make a full vow and totally abstain from injuring the life of living beings.¹¹ This great vow is described in the "*Ācārāṅga sūtra*".

"I renounce all killing of living beings, whether subtle or gross, whether mobile or immobile. Nor shall I myself kill living beings (nor cause others to do it, nor consent to it). As long as I live, I confess and blame, repent and exempt myself of these sins, in the thrice, three-fold way, in mind, speech and body."¹²

Another vow, *brahmacarya* (sex restraint) is considered by the Jainas to be of vital importance for the application of *ahiṃsā*.¹³

Firstly, sexual indulgence has its root in desire or lust and therefore always implies injuring one's own mind.¹⁴ Secondly, action based on passionate excitation tends to transgress reasonable limits and results in one's imposing one's will upon others. The "*Tattvārthādhi-gama sūtra*" of the Jainas states that unchastity is coition.¹⁵ However, it is clear that *brahmacharya* does not narrowly mean abstinence from physical coition only, it can also be defined as abstinence from self-indulgence (*kāma*) of every form; in speech, in thought, in the hope of enjoyment hereafter in heaven, even, in asking and permitting others to indulge themselves. For the complete maintenance of this vow, one must, therefore, desist from all forms of self-indulgence.¹⁶ For monk this vow is absolutely valid. It is called *mahāvratā*, (great vow) and for layman it is relatively small and is called *anuvratā* (partial vow). The *Ācārāṅga sūtra* describes it in the following words; how a monk should abstain from sexual pleasures :

"When strongly vexed by influence of the senses, he must absolutely eat bad food, mortify himself, stand upright, wander village to village, take no food at all, withdraw his mind from women—one should teach oneself not to cultivate sexuality. —He should not speak of women nor look at them, nor claim them as his own, nor do their work. Careful in his speech and guarding his mind."¹⁷

This discussion shows that Jaina ethics attributes a great deal of importance to *brahmacharya*. On the other hand, its transgression i.e., *abrahma*, (unchastity) results in violence. Unchastity results in violence against oneself due to the presence of passionate motivation and in violence against others due to passionate exploitation of others.

Asteya and *aparigraha* are two important components of non-violence in Jaina philosophy. The concept of *asteya* and *aparigraha* are very similar, both refraining from material possession. The former requires non-acceptance¹⁸ and the latter non-accumulation of these things.¹⁹ Thus it may be said that *asteya*, which is of primary importance to *aparigraha* is larger and more practical concept.

The Jaina vow of *asteya* is said to be logical, inseparable from the vow of *ahimsā*, the sanctity of property being a logical consequence of the sanctity of life,²⁰ because without material things, human life is impossible. To deprive a man of all sorts of outward things means reducing his vitality and that results in violence. Further a Jaina scripture remarks—"In making a gift one conquers

greed which is a form of violence, and hence gifts made to a worthy recipient amount to a renunciation of violence.²¹ Greed is one of the impulses behind violence and therefore the absence of greed reduces violence. A Jaina would make a gift or refuse to accept one, in order to rid himself of greed, which always involves violence for both oneself and others.²²

Asteya and *aparigraha* often occur in Jaina literature in an extreme form and it is doubtful whether in such cases they are components of *ahimsā*. A Jaina *sūtra* says about a mendicant :

He should beg for which he wants and which are permitted by the religious code. He should wear the clothes in the same state in which they are given to him. He should neither wash and dye them, nor should he wear washed and dyed clothes.²³

Such observations are made in Jaina scriptures. It is needless to quote further example. Sometimes it seems that *asteya* and *aparigraha* have been held to be intrinsic values.

The Jainas have extended non-violence towards sub-human beings on a larger scale than any other religious community in the world. *Puruṣārtha-siddhyupāya* remarks that those who desire to avoid violence should first of all take care to renounce wine, flesh, and five *udumbar* (fig) fruits.²⁴ It is peculiar to Jaina vegetarianism that Jainas are conscious of the three living beings which are present in all kinds of food. One should not eat fresh butter, because it is the birth place of numerous *jīvas*.²⁵ The Jainas even explain the prohibition of wine as a necessary act of non-violence. Wine stupefies a man and stupefied man is prone to admit acts of violence.²⁶

We may conclude that the Jainas have taken vegetarianism to its extreme conclusions. No other religious community in India has gone so far as to avoid killing any kind of living creature for food. The great number of different rules and taboos appear to show an attempt to cultivate vegetarianism without a sense of proportion.

The *puruṣārtha siddhyupāya* says that those, who after listening to the doctrine of *ahimsā*, are not able to renounce the violence of immobile beings, should at least give up the violence of mobile beings.²⁷ It is admitted that householders enjoying in an approved way have to injure a limited number of one-sensed beings but that they should desist from causing the destruction of other immobile beings.²⁸ Jaina non-violence means, in the first place, the non-killing of organic life, but it is not altogether confined to physical non-destruction.²⁹ A householder can practise *ahimsā* towards sub-human beings in more flexible way. He can exploit animals but not

beat them mercilessly. He can tie an animal, but not too tightly. A saint should observe the five great vows fully and without any transgression.

In Jaina thinking, *asatya* (falsehood) consists in speaking an untruth, which gives pain to living beings through bodily and mental action provoked by passion.³⁰ *Asteya* in Jainism means an utterance (concerning the nature of reality), which leads to violence. To balance this we may say that *satya* (truth) in Jainism means an utterance (concerning reality), which results in *ahimsā*. This definition creates many problems. Is a non-violent utterance considered to be truthful, even if it is not consistent with facts or bare facts, to be interpreted according to the violent and non-violent effects they seem to have? Is a beneficial effect a criterion of truth to the Jainas?

The *Acārāṅgā sūtra* explains that if a mendicant in the right leaves the door open and a thief enters, the mendicant should not tell the truth to the householder. He should not say that the thief enters or does not enter, that he hides himself or does not hide himself.³¹ According to this authoritative *sūtra*, we ought not to utter anything which can lead to the destruction of life.

Consequently, the Jainas discarded the theory of absolutism. According to the Jaina epistemology, all objects of knowledge are manifold or multiform (*anekānta*). All things possess infinite qualities and infinite relations. From this it follows that valid knowledge (*Pramāṇa*) is a knowledge of multiform objects, each part, aspect and quality can be known, and this partial knowledge is called *naya*. *Nayas* are relative truth.³² Hence absolute judgements are not possible in the *anekanta* philosophy of the Jainas. All judgements are relative, all objects being multiform.³³ The Jaina logic has, therefore, developed a sevenfold formula called *syādvāda* or the Doctrine of Relativity of Judgement. The word 'syāt' (perhaps or may be) is added before every judgement.³⁴

This philosophy shows how the Jainas accepting non-violence as a test of truth are forced to draw further epistemological conclusions. The doctrine of *anekānta*, *naya*, and *syādvāda* are based on the belief that non-violence has higher value than truth. The Jain conception of truth has an instrumental value, and is component of *ahimsā*.

We often come across assertions that non-violence means not doing something (violence) and other which affirms that non-vio-

lence is negative or positive ethical principle. The word itself, as we know is negative. In Jain ethics which seem to have emphasized non-killing more than any other system in Indian thought, there are various rules prohibiting participation in certain activities. Apart from certain primitive taboos, a Jaina layman may, as described by Herman Jacobi, voluntarily submit for the limited time to rigorous regime, by taking one of the *śīlavrata* regulation, or partial vows : (1) *digvirati*, is restraining freedom of physical movement, (2) *anarhadāṇḍavirati*, is a vow to engage in anything that does not strictly concern him and (3) *upabhogaparibhagaparimāṇa*, imposed a limit on his food, drink and personal pleasures, forbidding of cause of vicious pleasures.³⁵

These three vows of the “*śīlavrata*” or “*guṇavrata*” to give them their particular name, together with many other Jaina vows and rules, show that Jainism has a strong tendency towards a negative interpretation, Mrs. S. Stevenson gives it as her opinion that the central thought of Jainism is not so much saving life as refraining from destroying it.³⁶ Jadunath sinha also affirms that the vow (*vrata*) of *ahimsā* is negative.³⁷ This shows that there are grounds for thinking that the emphasis in Jaina ethics is not on doing positive good to others but on refraining from evil. A Jaina tries to acquire spiritual merit not so much by assisting others, but by refraining from actions which may lead to the destruction of living-being.

In modern literature, however, it is difficult to find statements that non-violence is purely negative. Boolchand for example, in his thesis “Lord Mahāvīra” takes the modern view :

“*Ahimsā* has been understood to comprehend *ahimsā* in thought, by word or act. It is important to add that it has not been explained merely on negative principle. It has been taken to mean the rendering of active service of others, for we shall be really injuring a person when can help him but do not. The social-objective-side of ethics is not ignored, but so far as the final aim of Jainism is the development of one’s personality, it emphasizes the individual aspects.³⁸ Thus, the final aim of Jainism is individualistic. A released soul seems to be above social service and sufficient into itself.³⁹ From this point of view, it is difficult to understand how the way of this individual good could be social service. I would suggest the idea that positive virtue cannot be practised in a vacuum. They are mainly social, but self-regarding virtues are more often negative.

According to *Ācārāṅga sūtra*, a great sage, neither injuring, nor injured, becomes a shelter for all sorts of afflicted creatures, like an island, which is never covered with water.⁴⁰ This hints at a positive interpretation of *ahimsā*. A Jain saint may take no positive part in worldly activities by helping others; he may renounce all form of social action and practise the self-regarding virtue, Yet it is still supposed that his mere presence will provide shelter and solace for afflicted beings. However, this does not resolve the problem of whether Jain *ahimsā* is positive, because the very approach is predominantly negative.

To achieve perfection Jainas applied non-violence in a negative form. It is not possible at any time for a human being to practise positive *ahimsā* to perfection, because he cannot foresee everything. He is limited by his ability and by external circumstances, and thus, positive *ahimsā* can only be practised in a limited way. Negative *ahimsā* (particularly if understood in the physical sense alone) can be practised in a more perfect form; but it leads to non-action and withdrawal from society. It seems that more emphasis there is on the negative aspect of physical non-injury, the more it leads to social withdrawal and vice versa.

In Jain ethics, non-violent action is divided into three kinds : physical, verbal, and mental, i.e. it is generally accepted that it places the stress on the acting subject. If an action is called physical, verbal and mental, it does not depend upon the object. The object, of course, may be either physical or mental. In the "*Sūtra Kṛtāṅga sūtra*", it is said that there are three ways of committing sins by one's own activity, by commission, and by approval. Another very popular analysis of non-violent action is by body, by speech and by mind.⁴¹

We have excellent descriptions of vocal non-violence in Jain ethics. Kundakundāchārya explains care-fulness in speech, '*Bhāṣā-Samiti*' in the following words :

"He who having renounced backbiting, ridiculing, talking ill of others, self-practising and harsh worked speech what is good for himself as well as for others (is said) to have carefulness in speech."⁴²

The language uttered should be sweet, gentle and pleasant. Further in "*Uttarādhyāyana sūtra*". "a student is advised not to provoke his teacher's anger., nor should himself grow angry. Perceiving the teacher's anger one should pacify himself by kindness,

appease him with folded hands and promise not to do wrong again."⁴³

Ahimsā by commission and approval also comes into the category of vocal and mental *ahimsā*. In a way we can say that mental *ahimsā* is more extensive ethical principle than vocal *ahimsā*, because the spoken word is only an expression of thought. Therefore, all these different kinds of *ahimsā* (directed towards mental objects or physical), mentioned above, can also be understood as mental *ahimsā*.⁴⁴ Action also is expression of thought. Often Jaina *ahimsā* is interpreted as non-killing alone, but it is quite apparent that there are instances of mental *ahimsā* also. A Jain sūtra declares :

“And if one acts carelessly, moved by the influence of passions, there “*himsā*” certainly arises before him whether a living being is killed or not”. “because under the influence of passions, the person first injures itself, through the self, whether there is subsequently an injury caused to another being or not.”⁴⁵

All action, therefore, dominated by carelessness or passion leads to violence. There are two ways of committing an injury : by subjective injury to the passionate man himself which is purely mental and by objective injury to other living beings.

A well-known exponent of Jaina philosophy, J.L. Jaini, illustrated mental *ahimsā* in the following ways :

“A true Jaina will do nothing to hurt the feeling of another person, man, woman and child nor will he violate the principle of Jainism.”⁴⁶

This opinion is not necessarily a modern interpretation of Jaina *ahimsā*. Mental *ahimsā* is no doubt exposed in Jaina ethics. References to non-anger, freedom from greed, as well as insistence on sweet and pleasing language may not, however, always be given as an example of *ahimsā* but they are so closely related to *ahimsā* that we may include them under this heading.

To understand *ahimsā* thoroughly, we have also to study its opposite side, because non-violence can be understood properly only by contrasting it with violence. Killing is commonly understood to be a specific term referring to an act involving the taking of life. Violence, however is much broader in its meaning. It no doubt include killing as an extreme example of violence, but violence can have many meanings and aspects. Umasvami has given a good definition of the inception of violence : “Pramathayogāt prāṇavya-peropaṇam *himsā*.”⁴⁷ Violence means injury to vitality (*prāṇavya-paropaṇam*) caused by passionate ‘vibrations’ (*pramathayoga*).

The same sort of definition also occurred in the *Puruṣārtha siddh'yupāya*. "*Yatkhoḃe Kasayogatprananam drarya-bhāvarupanam Vyaparopanasya karaṇam suniṣcits bhavate sa hiṃsā.*"⁴⁸ (Any injury whatsoever to the physical or mental vitally caused through passionate activity of mind, body and speech is violence assuredly.) The "*Puruṣārtha siddh'yupāya*" divides *prāṇas* or vitality into two parts: *Bhāva prāṇa* and *dravya prāṇa*. "The difference between them is explained in the following way :

Prāṇa or life according to the Jainas is either the "*bhāva prāṇa*" i.e., the inner and subjective itself consisting in the conscious state in its utmost parity or the "*dravya prāṇa*", i.e. the outer and the objective modes and organs through which the inner self expresses itself. *Hiṃsā* or violence is committed when either the inner-self of a being or the outward vehicle of the expression, e.g. the body is in any way hurt."⁴⁹

Mrs. S. Stevenson describes the difference between spiritual and actual murder. She said that one commits *Bhava hiṃsā* by wishing for someone's death and desiring harm to befall him and even by not continuing and completing one's own education, or not striving to improve one's own mind, and failing to exercise and discipline one's own soul or kill by stultifying what one might have been.⁵⁰

This kind of interpretation of *Bhāva hiṃsā* or mental violence, against one's own self represents an advanced interpretation of Jaina ethics, partly based on rare sayings. It defines introverted mental violence as not developing all those ethical and mental faculties, which one could have developed to reach a higher ethical value. Popular Jainism pays more attention to *dravya hiṃsā* than *Bhāva hiṃsā*. It would perhaps be difficult to apply *bhāva hiṃsā*. It would suit lower animal, as violence done to animal rarely goes beyond the physical.

The Jaina monasticism is an example of an effort to practise non-violence universally. They place *jīvas* or living beings in categories according to the number of sense-organs that they have the lowest are one-sensed beings, *ekendriya*, like vegetable cells. Then, there are two-sensed beings, *dvīndriya*, such as worms having the sense of touch and taste. Thirdly, there are *trīndriya*, three-sensed beings like the bug and the ant. Fourthly, there are *catuṛendriya*, four-sensed beings, like fly, having sight also, and finally two kinds of five-sensed beings :—irrational and rational (*pañcendriya asamjñī* and *samjñī*).⁵¹

Even if we have being with fewer senses alone, the results may be fatal. R.K. Mukherjee criticised the Jaina conception of non-violence, stating that "the irony of the extreme position is that there is in practice less care for the lives of human beings, in conduct towards them than for the lives of animal, animalcule, plants and seeds."⁵² Gandhi also seems to be critical of these extreme methods to ensure universal non-killing :

"It is my firm conviction that the principle of clinging to life in all circumstances betrays cowardice and is the cause of much of the *himsā* that goes on around us, and blind adherence to this principle is bound to increase instead of reducing *himsā*. It seems to me that if this Jaina principle is really as it is here enunciated, it is a hindrance to the attainment of salvation".⁵³

It seems to me that by this statement Gandhi has not actually opposed the universal practise of non-violence, but he defines non-violence in different way.

A Jaina saint ought to practise non-violence towards all living beings. The logical outcome of this is withdrawal from society, and to take it to its extreme conclusion would be to starve to death.⁵⁴ Thus absolute non-violence towards all organic life leads to withdrawal from social life and is finally suicidal.

The Jaina, thus, prescribes the practice of universal non-violence in a most casualistical manner and it is questionable whether a numerous prohibition arise from purely ethical considerations, These rules may often be ritualistical than ethical. It is apparent that the unlimited extension of non-killing to all sub-human beings has hindered the development of non-violence in human relations. ●

References :

1. S.N. Dasgupta, *A History of Indian Philosophy*, Vol. I, Cambridge, 1963, p. 169.
2. S.C. Rampuria, *The Cult of Ahimsā* (A Jaina view-point), Calcutta, 1947, p. 67.
3. S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, Vol. I, London, 1958 p. 287
4. Umasvami, *Tattvārthādhigama sūtra*, Vol. 7/2 (SBJ Vol. II)
5. Shri Kunda Kunda Acharya, *Niyamasāra*, IV, 61 (SBJ, Vol IX)
6. Ibid IV, 63 (p. 33)
7. J.L. Jaini, *Outline of Jainism*, Cambridge, 1916, p. 69
8. *Uttarādhyayana sūtra*, XXXV 8-12 (Secred Book of the East-Jain sūtra II pp. 204-205)
9. S.N. Dasgupta, op. cit, I, p. 199.

10. *Sūtrakṛtāṅga sūtra*, I, 1,3,26 (SBE XLV, Jaina Sūtra, II p. 243)
11. J. Sinha *A History of Indian Philosophy*; II, Calcutta 1952, p. 252
12. *Ācārāṅga Sūtra*, II : 15:1:1 : (SBE XXII, Jaina Sutra I p. 202)
13. *Tattvārthādhigama Sūtra*, VII 7, (SBJ IV, p. 50)
14. *Puruṣārtha Siddhpupāya*, 109, (S.B.J. IV p. 50)
15. *Tattvārthādhigama Sūtra*, VII, 16 (SBJ, II p. 141)
16. P.M. Dutta & S.C. Chatterjee, *An Introduction to Indian Philosophy*, Calcutta, 1983 pp. 101-11
17. *Ācārāṅga Sūtra*, I : 5:4:5 (S B.E. XXII, Jaina Sūtra, pp. 48-49)
18. *Tattvārthādhigama Sūtra*, VII, 15, (S.B.J. IV, p. 141)
19. Ibid, VII, 17 (S.B.J. IV p. 141)
20. Dutta and Chatterjee, op. cit, p. 110
21. *Puruṣārtha Siddhyupāya*, 172 (S.B.J. IV p. 69)
22. Note : It is interesting to note that though the Jaina scriptures preach *asteya* and *aparigraha* in a more extreme form than any other religions community in India, yet the Jaina Community in present day India is one of the richest. This shows a vast difference between theory and practice", of moral principles.
23. *Ācārāṅga Sūtra*, I, 7:4:1 (S.B.E. XXII, p. 68)
24. *Puruṣārtha-Siddhyupāya*, 61 (S.B.J. IV, p. 34) According to the commentary of Ajit Prasad, the five *Udumbar* trees are *Gūlar*, *Angira*, *Banyan*, *Peopal* and *Paker*, all belonging to the fig-class.
25. Ibid, 163, (S.B.J. IV, p. 64). The commentary to the translation says : Fresh butter if not at once melted on fire and stained away becomes a place for generation or fermentation. Fermentation in the case of butter, actually commences at once. though it is not visible early. Other example is prohibited articles, including curd, after 24 hours of preparation. milk if not boiled within an hour after being taken away, water which is kept in leather vessel.
26. H. Bhattacharya, "*The Jaina view of Ahimsā*" in *Shri Mahāvīra Commemoration volume I*, p. 161.
27. *Puruṣārtha siddhyupāya*. 129-30 (S.B.J, IX, p. 64 ½)
28. Ibid, 75, (S.B.J. IV. p. 37)
29. S. Stevenson, *The Heart of Jainism*, London, 1915, p. 206.
30. Jadunath Sinha, op. cit, II, p: 252.
31. *Ācārāṅga sūtra* II, 2:2:4 (S.B.E. XXIII, Jaina Sūtra, I, p. 125)
32. Jadunath Sinha, op. cit, pp. 197-200
33. Ibid p. 205
34. M. Hiriyanna, *Outlines of Indian Philosophy*, Calcutta, 1938, pp. 110-11.

35. *Encyclopaedia of Religion and Ethics* VII p. 470
36. S. Stevenson, op. cit, p. 116
37. Jadunath Sinha, op. cit, II, p. 252
38. Bool Chand, *Lord Mahāvira*, p. 75
39. Ibid, p. 50
30. Ācārāṅga Sūtra I 6:5:4 (S.B.E. XLV Jaina Sūtra, II, p. 243)
41. Sūtrakṛtāṅga Sūtra I. 1:3:26 (S.B.E. XLV Jaina Sūtra II, 243)
42. Shri Kunda Kunda Āchārya, op. cit. IV 62, (SBJ, IX p. 33)
43. *Uttarādhyayana Sūtra* I 40-41 (S.B.E. Jain Sūtra II pp. 6-7)
44. Ibid
45. *Puruṣārtha Siddhyupāya*, 46-47 (S.B.J. pp. 29)
46. J.L. Jaini, op. cit, p. 72 Note—If is not clear whether *ahimsā* means abstention from violating the principles of Jainism. Jainism is not a living being and secondly, if this attitude is adopted in order not to hurt any-one's feeling it is applicable to all philosophies. In this case a follower of *ahimsā* would not dare to speak a single word of truth not even a Jainist truth.
47. Umasvami, op. cit, 17 (S.B.J. II p. 141)
48. Purusartha Siddhyapaya, 43, (S.B.J. IV p. 27)
49. H. Bhattacharya, op cit, p. 61
50. S.N. Dasgupta, op. cit, I p. 189, see also the commentry to *Puruṣāritha Siddhupāya*, by Ajit Prasad, pp. 27-28
51. R.K. Mukharjee, *Hindu Civilivation*, Bombay, 1977 p. 241
52. M.K. Gandhi, *Hindu Dharma*, Ahmendabad 1950, p. 230. (VI, 25.10.28)
53. S.N. Dasgupta, op. cit, p. 76.

“In India's history, after Aśoka only another Powerful Emperor viz., Akbar issued orders for the prevention of cruelty to animals and that was done by the influence of the celebrated Jaina teacher Hira Vijaya whom Akbar had summoned to his court.”

—Amulyachandra Sen

KALKI INCARNATION

It is said in the Kalki Purāna that the allied forces marched against शशिध्वज, the king of Bhallāṭa city. शशिध्वज had a wife named सुशान्ता, who was a devotee of विष्णु and she advised her husband not to fight against Kalki, but शशिध्वज, like रावण wanted to gain cheaper mukti by becoming an enemy of विष्णु. So, although he knew that Kalki was विष्णु, he fought with the allied armies. Both the armies were strong. Allied were strong with the armies of Avanti and others. Armies of शशिध्वज also were strong because if शशिध्वज was शिशुनाग, he is likely to have been helped by Vaiśāli.

The fight, according to the kalki, was a terrible one and all the heroes of the allied armies suffered defeat and kalki himself after a brave fight, was wounded and fell in a deep swoon; and in that condition he was carried by शशिध्वज to his harem so that his queen may have his दर्शन. Ultimately of course, शशिध्वज pledged his alliaice to Kalki and married his own daughter रमा to kalki.

This religio-devotional description shows clearly that though the federated armies were not successful against शशिध्वज, they were, however able to contract peace with him, whereby शशिध्वज agreed to lead the allied armies and jorn the confederacy. Thus kāśi and Vaiśāli were added to the confederacy and we have already seen that both these states had a longstanding grudge against Magadh. Thus, now, both Viśākhayūpa and Śāśidhvaja jointly led the allied armies under the able generalship of kalki, who, like Cāṇakya of later days, seems to have been a practical politician and an accomplished warrior.

The Confederacy, thus strengthened marched against Magadha, whose capital is here called kikaṭa (which we know was identified with Magadha). Here the names of the kings against whom the allied forces fought, are given as Jina and Śandhōdani and the opponents are generally called Baudhdhas. The allied armies dealt a crushing defeat to the Magadha king. Thus the cause of the allies was fully vindicated. It was both a political and a religious Conquest that they made. Buddhism met with its first check then. This, in short, is the historical background of the kalki incarnation.

– D. R. Mankad

INTERNAL FORCES OF LIFE

(Jain Philosophy & Modern Science)

□ J. S. Zaveri &

□ Muni Mahendra Kumar

The Jain View on Characteristics of Living Organism

A living organism depends upon an 'organization' that regulates all its actions. What exactly, then is 'living'? In other words, what is the difference between 'animate' and 'inanimate'? According to Jain Philosophy, animation (life) is caused by the unity of a non-physical (or non-material) entity called SOUL or spirit with a material body. That is, there is a subtle spiritual self associated with the gross physical body during the life; death is the separation of the two. Until emancipated, the soul is always enveloped by *karman* (as *karma-sarira*). Thus, on death, what is separated from the physical body is soul-cum-*karma-sarira*. It is the *karman* that is responsible for the 'organization' of the physical body. The role of the non-material soul is somewhat akin to a catalyst. An organism 'lives' for the duration of the life-span which is determined by one of the eight main categories of *karman* viz. *āyusya karman*.

Body and Soul

Birth of an individual organism in a particular species at a particular time and in a particular place is neither arbitrary nor accidental but the very precise result of the individual's *karman* which again is the result of its actions in the past life or lives. The determination of the species, the life-span, the social status, feeling of pain and pleasure and such other fundamental factors of the individual's 'life' are the combined result of four *aghātin* main categories, viz., (i) *nāma-karman* (ii) *gotra karman* (iii) *vedanīya-karman* and (iv) *āyusya karman* and their relevant sub-categories.

The Soul

No one has yet been able to synthesize a *living cell* in the laboratory, although we know now, in some detail, what the various material substances involved are in the making of a cell, because life is not merely a composition of *material substances*. A *non-material* soul-substance (*jīvāstikāya*) is also essential to create a live cell. Soul is a substance but not a physical one. And this non-material/non-

physical substance is eternal; it can neither be created nor destroyed. A soul animates a particular organism and manifests itself in various vital functions of a living organism. They can be classified into ten groups, called *prāṇa* [vital force or bio-energy].

(1) *Āyusya prāṇa*—ability to keep alive for a predetermined life-span which maintains the unity of the body and soul; when it terminates, death occurs.

(2) *Svāsochhvāsa prāṇa*—ability to breathe—an essentially vital function for continuing life.

(3) *Śarīra-bala*—vigour of the physical body as a whole.

(4) *Vacana bala or bhāṣā-bala*—ability of vocal expression, both articulate and inarticulate.

(5) *Manah-bala*—ability to think.

(6) to (10) *Indriya prāṇa*—ability of utilising the perceptive power of each of the five sense-organs.

Now it is not difficult to see that any of these psychic faculties (*prāṇa*) is of no empirical use without its physical counterpart called *pariyāpti*¹ (bio-potential). This means that only a *samjñī pañcendriya* organism (five-sensed organism with brain) is possessed of all the ten *prāṇas*, while the lower ones will be possessed of less. Thus, in a one-sensed organism, such as a plant, only four *prāṇas*, which is the bare minimum, could be active and manifested, viz. *āyusya prāṇa*, *svāsochhvāsa prāṇa*, *śarīra-bala* and only one *indriya prāṇa*, that of touch. All the rest would be dormant. It should be remembered that faculty of communication (*bhāṣā-bala*) is possessed by two-sensed and higher organisms.

There is much evidence that bodies of *all* living organisms on earth from plants, bacteria, jellyfish (the simplest of animals that has a nervous system) to apes and humans, all use the same DNA Code and similar amino-acids. And yet, no two organisms are totally identical. True, that all members of a particular species and sub-species would possess the same genetic code but the genes, themselves, would vary from member to member. This is because, the genes are not only hereditary but are also significantly influenced by the *karman* of the individual member. Thus, while the general behaviour of all the members of a species would be the characteristic one of the species, it would infinitely vary from member to member. This is because, though humans alone appear to have consciousness or minds distinct from their bodies, each and every living organism, also, has a non-material soul associated with a material body. The

existence of the soul distinct from the body is not merely a concept but a metaphysical reality.

Basic Biological Principles

According to biology, living organism is qualitatively distinct from the non-living matter. Functioning of the former is governed by some unique biological laws. The essence of living organism is the set of principles determining the transmission of genetic information from one generation to the next.

Living organisms are composed of the same constituents as the rest of the earth, but it possesses, besides free will, which is the characteristic of life, all of the following attributes: organization, excitability, conductivity, contractility, metabolism, growth and reproduction. One or more of these, but not all, may be possessed also by non-living matter.

Vitality and Homeostasis

In its composition, a living organism contains no special element but is mainly made up of some 16 of the 92 elements that occur naturally on the earth. Not only are these elements a very special set but they are combined together to make molecules more complicated than any others known in the universe. Biologists do not accept that living depends upon a non-physical soul or spirit but they agree that a *vital force* is produced by these unique large molecules, i.e. they are organized into living organisms which are not closed systems in equilibrium, but in a steady state of interchange with the external environment maintained by continual intake of fuel and expenditure of energy. Thus, *carbon* which is the most common constituent of food stuffs, goes through the stomach and intestines into the blood and from there to a muscle where it is burnt to give energy when the muscle contracts. In a couple of hours after eating, it will be breathed out of the lungs as *carbon dioxide*. This process of self-maintenance is called homeostasis. It is not a static condition but a dynamic equilibrium. In most parts of the body, there is a rapid turnover in many tissues and even the cells themselves are continually replaced by new ones. And yet, as all these interchanges go on, the integrity of the whole organism is preserved. Thus the process of homeostasis, which consists, as it were, of a continual *death and rebirth, is the essential property of life. A vital force or vitality* is the principle at work, which prevents the dissolution of the body in spite of continual expending of energy. End of vitality results in death.

Survival/Samjñās

Living involves using information to make choices between

alternatives, with the aim of achieving the goal of continuation of life. Every organism carries in its DNA, the instructions for doing this by dealing with various eventualities that may arise. Life continues because organisms make repeated choices among previously established sets of possible alternative actions. The very essence of living is the presence of varied possibilities of actions allowing selection of those that ensure survival.

Thus, one of the fundamental characteristics common to all living beings without exception is the *aim of survival*. Every organism achieves it with efficiency rarely approached in man-made machines. The apparatus which is perfectly adapted for this purpose is supplied by *nāma karman* and *āyusya karman* which provide suitable reference standards or *saṃjñās* (unlearned instincts) for every category of organism. In humans, the pattern of nerve cells of the *hypothalamus* of the brain are the physical embodiments of fundamental standards. The patterns of human actions are set originally during embryonic development under the control of DNA which in itself is partly inherited and partly *karmic*. These reference standards are the primal drives or the unlearned instincts. Throughout life, they generate wants and desires, influence hunger and satiety, longings and satisfactions, love and hate, revulsions and fears. Of course, these are not the only or even the main influences and one does not follow only the hypothalamus. In human life, the standards include many further subtleties derived from learning and culture. In all cultures, from the most primitive to the most sophisticated, people are continually faced with situations where they must choose what to do, what to say, what to ask for, what to buy, what to give and so on, of course their choices depend upon all sorts of individuals needs, preferences and cultural influences. Thousands of other equally powerful influences, not necessarily instinctual but learned, interact with the primal drives. They may reinforce or countermand a primal drive.² But all of these are subordinate to a fundamental method of acting that is embodied in the programs of the brain.

Reference Standards

Every living organism acts in a directed way, each moment of its life, this is because the highly stable DNA molecules give instructions and information providing standards indicating what to do. For humans, instructions of the genes provide, during embryonic development, the system of reference standards at which to aim, e.g., the cells of the hypothalamus ensure (as we shall see in a subsequent chapter) that the right amount of food and drink are taken and the right amount is incorporated to allow the body to grow to

its proper size. Throughout life, the genes continue giving instructions to the cells as to how to select the right chemical action to fare the eventualities that are likely to cause the body to disintegrate. The information is embodied in an enormous long string that we describe as *genetic code*, provided by the sequences of three nucleotide bases. The reference standards in our brains influence our wants and desires, our satisfaction and revulsions, our longings and our fears. The causes of actions of a given man will include not only all the above variables but also his free will. ●

References :

1. This is the process of *pariyāpti* (bio-potential) which is completed in six stages : (1) The first is *āhāra pariyāpti*—the in-take of the fertilized ovum by the soul. (2) The second is *śarīra pariyāpti*—adoption of the ovum as the physical body. Then follow (3) *īndriya pariyāpti*, (4) *svāsocchvāsa pariyāpti* (5) *bhāṣā pariyāpti* and (6) *manah pariyāpti*—the sequences of the consummation of the potential faculties of sense organs, respiration, speech and thought respectively.
2. For example a non-vegetarian would be delighted when served with, say, a well-cooked lobster dinner. On the other hand, a born vegetarian would find the very sight so repulsive that he may throw up. In neither case is the lobster responsible for the result but learned emotional feelings. ●

LANGUAGE OF EMOTION

Poetry and Music have been called the ~~language~~ of emotion. Any emotional response is a combination of ~~sensation~~ and the response to it. For example, certain stimuli arouse ~~fear~~ or sadness, religious fervour and devotion, and in each case the particular emotion is accompanied by physical changes such as increased heart-beats and weeping relaxation and tranquillity.

Music has its own language which illustrate the ~~abstract~~ qualities of human experience, rather than particular facts. These qualities are fundamental features of the whole ~~cerebral organization~~; therefore inevitably, when, say, sadness or joy are suggested, whole complexes of associated details may follow.

—J. S. Zaveri

Book-Review

1. Title : *Jainthology*, Editor : Ganesh Lalwani Publisher : Jain Bhawan, P-25 Kalakar Street, Calcutta—7, July 1991, Price : Rs. 100 Pages : 240.

The editor says that purification of self is ascent of man by conquering his lower self and it is the story of Jainism as well. He has tried to retell this story through some 25 articles from the past issues of his Journal.

The *Jainthology*, in other words, is a collection of twenty-five articles selected from the past issues of the Jain Journal as a mark of the completion of the 25th year of its existence.

The articles of the volume are manifold. It embraces the basic problems on history and prehistory of mankind in relation to Jain Canons such as Evolution of Mankind as depicted in the Jain Āgamas; The Indus Valley civilisation and Ṛṣabha and Antiquity of Bhārata War etc. It describes in a succinct manner the doctrine of *ahimsa* and the *karma* theory of Jains.

The articles published here are of high standard and indicate a deep understanding of the subject and therefore have still some value. But as the research advances, new facts unveil and hidden proofs have been understood, new dimensions open and the subjects take a new shape. I think the editor wants to stimulate and encourage the researchers to go deep in the subjects of his choice. So he circulated a bunch of 25 articles he already published in the past issues of the Jain Journal. Generally, most of the Silver Jubilee Volumes are published on the basis of the fresh and new articles from some present scholars of the subject. So, I don't think this an excellent idea, but there is no harm in repeating for the cause mentioned above.

The printing is nice and free from mistakes and that is one of the solemn qualities of this Journal. Shri Ganesh Lalwani, who is devoted to the cause of Jainism, is doing good work and his Jain Journal in general and this *Jainthology* in particular is a paramount source for the study of Jain religion, philosophy and historical gleanings.

2. *Neuro-science & Karma : the Jain Doctrine of Psycho-physical Force*; Authors : J.S. Zaveri & Muni Mahendra Kumar ; Publishers : Jain Vishva Bharti Institute, Ladnun; First Edition, 1992. Price : Rs. 100/- Pages 123+38.

Science has made tremendous progress during the last hundred years in the fields of Psychology, Endocrinology and Neuroscience. Neuroscientists have carefully mapped out centres of pain and pleasures and they have identified the limbic system in the brain which is the seat of our emotions.

Through the centuries the surveyors of brain have charted every cerebral hill and valley. They have determined that the skull houses not one brain but two—a matched pair, the two hemispheres which communicate through the corpus callosum deep within the cerebral divide.

The limbic system works with both the cerebrum above and the brainstem below, while connections of the limbic system with the cerebrum permit an interplay between reason and emotion, those with the brainstem help in maintaining a state of emotional balance and alertness. Generally, both of them work in harmony, but the balance can be easily upset.

The discovery of the centres of anger and aggression by electric stimulation has clarified hitherto mysterious significance of self-generated anger in canonical literature. Jain āgamas teach us that the passion quartet—anger, arrogance, deceit and greed—are self-generated or provoked by others or generated due to the fruition of a specific *karman*.

Neuro science has established that there are centres of anger as well as peace in our limbic system. Dr. Jose Delgado's experiments with ESB (Electric Stimulation of Brain) has revealed that an animal (bull) can be made either fighting mad or totally docile by stimulating (by remote control) different points of its limbic system. Thus neuroscience not only explains but explains and clarifies what is rather vaguely stated in the *āgamas*.

Similarly one of the most fundamental principles of the *Doctrine of Karman* is that every change in the soul synchronizes with a corresponding change in the state of *karman* and vice versa. The *kārmic* matter undergoes various processes due to the changes in the states of the soul. By the application and manifestation of the process of a particular type of potency, the soul is able to change the nature, duration, intensity and numerical strength of the 'bonded' *karman*.

The authors, Mr. J. S. Zaveri and Muni Mahendra kumar, developed the idea of an integrated personality in the *Prajñā Parva* period, when Acharya Shree Tulsi celebrated his 75th year as the year of welfare (*yoga-kṣema*) and during that period the problem of bridging the wide gulf between religion and science was discussed and it was thought essential to satisfy the sceptic by scientific methodology and convince him about the superiority of wisdom alone superfluous knowledge.

The authors had tried their best to build a bridge to transcend the chasm between the philosophical outlook and the scientific mind which does not accept anything that cannot be experimentally proved while the religious mind needs no proof for anything laid down in the sacred canonical books. Though they are not sure, as they themselves say “we are not sure whether we have succeeded in making this presentation both readable and intelligible” but I am sure that a tremendous work has been done and this publication of *Jain Vishva Bharti Institute* has produced a dogmatical research in the field of the Science of Living.

Topics like Internal Forces of life, Language of the Brain, Loving and Attachment and Fearing and Fighting—all give very useful and hitherto unknown but based on scientific grounds; information that reader will accept and honour.

I particularly agree with authors that with the development of sexuality come new needs. The basic impetus to sex comes from *deluding-karman*, heredity and hormones but its manifestations are profoundly influenced by experience. Very often, grown-up men and women may enter into matrimony without the slightest idea of how to go about sexual intercourse and proper sexual behaviour is developed after a period of experiment and learning. In spite of a spate of publicity about sex, it remains a very private phenomenon among humans and this very privacy leads to much anxiety and ignorance and to quite unfounded fears of being abnormal.

The whole question of sexual attraction between permanent partners seems still to need study. The western theory that we become attached to each other by a biological bond does not seem to be right. The relationship between the hormonal factors and the programs of so-called higher parts of the brain are still little known.

Anyhow, the authors have paved the way and the study in *Neuro-science and karman* is on. I hope the matter will be discussed and new dimensions will open to facilitate the common reader.

—Parmeshwar Solanki

तुलसी प्रज्ञा (१७वां खण्ड) की अनुक्रमणिका

—परमेश्वर सोलंकी

अ—मूलशोध और विवेचनाएं

- १: डॉ० अरुणा आनन्द—उपाध्याय यशोविजयकृत पातंजलयोगसूत्र वृत्ति में वर्णित कर्म सिद्धांत (१/२७-४१)।
२. श्री उपेन्द्रनाथ राय—वीर निर्वाणकाल (१/११-२६)।
३. डॉ० के० आर० चन्द्र—अर्द्धमागधी भाषा :—म्ह और स्सि सप्तमी एकवचन की प्राचीन विभक्तियां (२/७३-७५); सामान्य प्राकृत भाषा में मध्यवर्ती त=द (३/१५७-१६०)।
4. K. C. Jain—Jaina Sources for the History of Nagaur (1/9-13).
५. श्री गोपाल शर्मा—संस्कृत वाङ्मय में लोक अवधारणा (३/१११-११८)।
6. Dr. G. V. Tagare—The Ethical Aspect of an Individual (3/59-66).
७. पं० चन्द्रकान्त बाली— बुद्ध-महावीर की ज्येष्ठता/कनिष्ठता के संदर्भ में वर्षाऽऽवास का इतिहास (३/१५१-१५६)।
8. Dr. Chilana Mulk Raj—How I became what I am (3/76)।
९. डॉ० जगन्नाथ जोशी एवं
डॉ० (श्रीमती) कमला पंत—भारतीय दर्शन की आशावादिता एवं प्रगतिशीलता (३/१४५-१५०)।
10. Jagatram Bhattacharyya—Three Māgadhī Sūtras found in the commentary of Raghava on Śakuntalā (3/77-79).
11. Dr. Jagdishchandra Jain—Importance of Angavijjā—a Prakrit Text of Antiquity (2/33-38)।
12. J. L. Zaveri & Muni
Mahendra Kumarji—Internal Force of Life (4/115-119).
१३. डॉ० देवदत्त दर्शा—हिन्दी काव्य में पंच महाव्रत (४/१९३-१९६)।
१४. डॉ० देवसहाय त्रिवेद—सम्राट् समुद्रगुप्त और उसका राजवंश (१/४५-५०)।
15. Nagendra Kumar Singh—Non-violent action in Jain Ethics (4/103-113).

16. Dr. N. K. Dash—Jainism : An old Independent Religion (1/3-8); Jainism & Buddhism (2/39-43).

१७. श्री नानालाल ज० रुनवाल—अनन्त के अनन्त भेद (१/१-४).

१८. डॉ० परमेश्वर सोलंकी—आचार्य हरिभद्रसूरि का काल संशोधन (१/५-१०);
आदि कर्तृन् अर्हत् पञ्चेन्द्र (३/१०७-११०); संयमधारी
साधु में लेश्याएं : एक विवेचन (३/१६१-१६४);
सप्तषियों से कालगणनाएं (४/१७६-१६२).

19. Dr. Premsuman Jain—Equivalent Views about Ultimate Reality in Jainism & Buddhism (2/19-31).

20. Dr. B. K. Khadabadi—Some Thoughts on Tirukkural (3/67-75);
on the Concept of Truth in Jainism
(4/99-102).

२१. बी० रमेश जैन—जैन दर्शन और पाश्चात्य मनोविज्ञान की तुलना (४/१६७-२०२)।

२२. डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'—जैन-बौद्ध विनय का तुलनात्मक अध्ययन (३/११६-१३१)।

२३. प्रो० मांगीलाल मिश्र—शाश्वत यायावरी जैन श्रमणों की (२/७७-८१)।

२४. मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही'—तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास (४/२०७-२१३)।

२५. मुनि विमलकुमार—तीर्थंकरों के नामकरण का हेतु और उनका द्युत्पत्तिलभ्यार्थ (४/२१६-२२८)।

२६. मुनि सुखलालजी—तेरापंथ धर्मसंघ का अवदान—आचार्य भिक्षु का राजस्थानी साहित्य (४/२१५-२१८)।

27. R. L. Kothari—Jain Vishva Bharati—A Deemed University (1/1-2).

२८. प्रो० विश्वनाथ मिश्र—ज्ञान प्रामाण्य विवेचन (२/५६-६६)।

29. V. G. Nair—Teshub or Reshub : The Arhat (3/80-83).

३०. समणी मंगलप्रज्ञा—आत्मा का वजन (२/६७-६८)।

३१. साध्वी राजमती—आदमी बूढ़ा क्यों होता है ? (२/६६-७२)।

३२. साध्वी डॉ० सुरेखाजी—क्या सामान्य केवली के लिए अर्हन्त पद उपयुक्त है ? (२/८३-८८)।

३३. डॉ० सुषमा सिंघवी—जैन नय-न्याय द्वारा तत्त्वार्थ निर्णय (३/१३३-१४३)।

इ—परिचयात्मक सूचनाएं

1. Nagendra Kumar Sinsgh—Prosodial Practice of six Jaina poets (10th to 13th century A.D. (2/45-47).

2. N. H. Samtani—Ashokan Message Towards Mutual Understanding of Religious Communities (2/44).

३. डॉ० भूपसिंह राजपूत—हांसी की विरल जैन मूर्तियां (१/४३-४४) ।

४. श्री विजयकुमार एवं

श्री किशनलाल—बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में जैन संस्कृति का विराट् प्रति-
बिम्ब : जैनकला दीर्घा (४/२०३-२०५) ।

उ—मधुकणिकाएं

१. डॉ० परमेश्वर सोलंकी—निर्वाण काल वर्ष संख्या (१/५१-५३) ।

२. मुनि श्री जीवोजी—दृष्टांत शतक री जोड़ (२/८६-९८) ।

ऋ—स्तुति-श्रद्धांजलि आदि

1. Dr. B. K. Khadabadi—Contribution of German Scholars to Prakrit Studies with special reference to A. Weber (3/55-58).

२. नानालाल रूनवाल—ऋषभ जिन स्तुति : चतुर्विंशति जिनेश्वर नुति : (१/कवर
पृष्ठ) ।

३. डॉ० परमेश्वर सोलंकी एवं

अमृतलाल शास्त्री—५६वें पट्टोत्सव के पुनीत अवसर पर आचार्य श्री तुलसी के
चरणों में नमन ! शतशत अभिनन्दन (२/१-२);
श्रद्धांजलि—स्वर्गीय डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल
(२/७६); A Creative Genius : Shrimad Jaya
charya (2/17-18); Hermann George Jacobi
(4/91-95).

लू—सार सकलन

१. डॉ० डी० आर० मांकड़—Kalki Incarnation (4/114).

२. डॉ० परमेश्वर सोलंकी—महावीर निर्वाण बाद के सहस्र वर्ष (१/४२);
The Chronological list of Sainy Seasons
passed by Mahavira & Buddha (2/32).

ए—संपादकीय

डॉ० परमेश्वर सोलंकी—वीर निर्वाण संवत् (१/२-४); हाथी गुंफा लेख की दो
ओलियां (२/२-४); मुरियकालचौछिने चौयठ भंगे
(३/२-४); उदयगिरि-खण्डगिरी के छोटे लेखों का महत्त्व
(४/२-४) ।

ओ—पुस्तक समीक्षा

| पुस्तक का नाम | समीक्षक |
|--|----------------------------------|
| १. इतिहास के दर्पण में जम्मड़ भवन | —डॉ० परमेश्वर सोलंकी (१/५५) |
| २. वाक्य रचना बोध | —भंवरलाल दइया (१/५६) |
| ३. अस्तित्व और अहिंसा | —आनंदप्रकाश त्रिपाठी (१/५७) |
| ४. जयोदय महाकाव्यम् | —अमृतलाल शास्त्री (१/५७-५८) |
| ५. अंतसतास | —डॉ० परमेश्वर सोलंकी (१/५८) |
| ६. मरुधरा का वैभव : डीडवाणा | ” (२/६६-१००) |
| ७. समयसार | —अमृतलाल शास्त्री (२/१००-१०१) |
| ८. नवतत्त्व | ” (२/१०१) |
| ९. चित्त और मन | —आनंदप्रकाश त्रिपाठी (२/१०२) |
| १०. मेहू सूं पेल्यां | —रामस्वरूप सोनी (२/१०३) |
| ११. चमगुंगी | —परमेश्वर सोलंकी (२/१०३) |
| १२. जैन योग परिभाषिक शब्दकोश | —डॉ० आनंदमंगल वाजपेयी (२/१०४-५) |
| १३. भूक माटी-महाकाव्य | —डॉ० परमेश्वर सोलंकी (३/१६५-१६८) |
| १४. आखरी शर्त | —डॉ० रामप्रसाद मिश्र (३/१६८-१६९) |
| १५. अब किसकी बारी है | —डॉ० परमेश्वर सोलंकी (३/१६९-७०) |
| १६. ज्ञान किरण | —नेमीचंद जैन (३/१७०-७१) |
| १७. भाग्यचक्र | —लाखनसिंह शर्मा (३/१७१-२) |
| १८. मूल्य मुस्कान का | —सीताराम दाधीच (३/१७२) |
| १९. मुनि-मनोरञ्जनाशीति: | —अमृतलाल शास्त्री (३/१७३) |
| २०. प्राच्य भारती प्रकाशन-कहाणय अट्टगं, सेतुबन्ध, लीलावई कहा | —परमेश्वर सोलंकी (३/१७३) |
| २१. प्रवचन पाथेय भाग-८ | ” (३/१७४) |
| २२. पुरुषार्थ की गाथा | —डॉ० गिरिजाशंकर शर्मा (४/२२९-३०) |
| २३. आगे की सुधि लेइ | —प्रो० विश्वनाथ मिश्र (४/२३०) |
| २४. दो काव्य कृतियां— गीतों का गुलदस्ता और उलझे तार | —परमेश्वर सोलंकी (४/२३१) |
| २५. छन्द राउजइतसीरउ | ” (४/२३२-३) |
| २६. प्राकृत वाक्य रचना बोध | —अमृतलाल शास्त्री (४/२३४-५) |
| २७. दिग्म्बरत्व एवं दिग्म्बर मुनि | —रामस्वरूप सोनी (४/२३६) |
| २८. सचित्र तीर्थंकर चरितावली | ” (४/२३७) |
| २९. 'साहित्य स्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री' | —Ram Swaroop soni (1/14-15) |
| 30. Vācaka Śimad Umāsvāti's Pras'amarati-Prakarāṇa | —G.V. Tagare (1/15) |
| 31. 'छत्रमुनि के संस्कृत काव्य' | —Ram Swaroop Soni (2/4-8) |

32. Śaurasenī Prākṛta Vyākaraṇa —Jagat Ram Bhattacharyya
(2/49)
33. Bibliography of
Prakrit and Jaina
Research —Parmeshwar Solanki (3/84)
34. Gommaṭesa Thudi
of Ācharya Nemichndra
Siddhanta Cakravarti „ (3/85)
35. Mookmati Mahākāvya :
Kāvya Śāstriya Nikāṣa —Ram Swaroop Soni (3/86)
36. Jainthology —Parmeshwar Solanki
37. Neuro-science & Karma : the Jain Doctrine
of Psycho-physical Force —Parmeshwar Solanki

जैन विश्व भारती, लाडनूं [राज०]

आगम-साहित्य धारकों से एक निवेदन

अनुभव हुआ है कि संस्था द्वारा प्रकाशित आगम-साहित्य के अध्ययन के प्रति श्रावक-समाज की रुचि अपेक्षाकृत कम है या फिर यह विषय सहज ग्राह्य नहीं है। ऐसी स्थिति में पाठकों के लिए रुचिकर योग, कथा एवं जीवन विज्ञान साहित्य उपलब्ध कराने की एक योजना प्रसारित की गई है। इसके अन्तर्गत आपके पास जो आगम-साहित्य हैं उनके बदले में आप मूल्यानुसार योग साहित्य या अन्य साहित्य संस्था से प्राप्त कर सकते हैं।

धीचंद बंगानी
मंत्री

फार्म-४

(नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन नाम : 'तुलसी प्रज्ञा'
२. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
३. प्रकाशक का नाम : रामस्वरूप गर्ग
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : जैन विश्व भारती, लाडनूं
४. मुद्रक का नाम : रामस्वरूप गर्ग
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : जैन विश्व भारती, प्रेस
लाडनूं
५. संपादक का नाम : परमेश्वर सोलंकी
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : जैन विश्व भारती, लाडनूं
६. उन व्यक्तियों के नाम-पत्र जो पत्रिका के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साभेदार या हिस्सेदार हों। : जैन विश्व भारती
पत्रिका के स्वामी हों तथा जो : पंजीकृत संस्था
समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से : लाडनूं—३४१३०६
अधिक के साभेदार या हिस्सेदार हों।

मैं रामस्वरूप गर्ग एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक २६ फरवरी १९६२

रामस्वरूप गर्ग
प्रकाशक

Registration Nos. [

Postal Department : NUR—08
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XVII, No. 4

TULSI-PRAJÑĀ

Jan.-March, 1992

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग द्वारा जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ के लिये
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू (नागौर) में मुद्रित । संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलङ्की